प्रश्नों और दुविधाओं के बीच

जनआंदोलन में विज्ञान की भूमिका

लेखक : डा. अनिल सद्गोपाल
रूपांतर : साधना सक्सेना
रेखांकन : जय झारोटिया
दिनमान से पुनर्मुद्रित

इस व्याख्यान में प्रस्तुत विचारों की शृंखला की शुरुआत मध्यप्रदेश के शहडोल जिले के अनूपपुर प्रखंड में सक्रिय स्वैच्छिक कार्यकर्त्ता श्री अ. कु. राय के 'साइंस टुडे' (अक्तूबर, 1979) में प्रकाशित 'ए सर्च फार दी मीनिंग ऑफ साइंस' (विज्ञान के अर्थ की खोज में) शीर्षक लेख से हुई थी. हाल में जन विज्ञान आंदोलन की तरफ देश भर में लोगों के बढ़ते हुए झुकाव को दृष्टिगत रखते हुए जन आंदोलनों के विकास में वैज्ञानिक की भूमिका समझने की जरूरत विशेष रूप से महसूस हो रही है. आशा है, यहां पर प्रस्तुत विचारों से कार्यकर्त्ताओं के बीच जन आंदोलन के कार्यक्रमों और पद्धतियों के विषय पर चल रहे संवाद को और अधिक प्रखर करने में मदद मिलेगी.

इस व्याख्यान में व्यक्त किये गये विचार व्यवस्थित रूप से पहली बार अप्रैल, 1980 में बंबई की प्रख्यात एशियाटिक सोसायटी के तत्त्वाधान में आयोजित 'विज्ञान और समाज' शीर्षक की व्याख्यानमाला में अंग्रेजी में प्रस्तुत किये गये थे. लोगों की प्रतिक्रियाओं के आधार पर इस व्याख्यान के तार्किक क्रम में संशोधन कर के और कुछ ज्यादा सटीक अनुभव जोड़ कर ये विचार दुबारा इंदौर में अभ्यास मंडल संस्था के तत्त्वावधान में आयोजित व्याख्यान माला के अंतर्गत मई, 1981 में हिंदी में पेश किये गये. इसी व्याख्यान का एक सुधरा हुआ स्वरूप अगस्त 12, 1981 को भारतीय समाज विज्ञान अनुसंधान परिषद् (इंडियन काउंसिल ऑफ सोशल साइंस रिसर्च) के तत्त्वावधान में नयी दिल्ली में विक्रम साराभाई स्मारक व्याख्यान के रूप में प्रस्तुत किया गया. इसी भाषण का साधना सक्सेना द्वारा किया गया हिंदी रूपांतरण कुछ ताजे व अधिक सशक्त उदाहरणों और परिमार्जित तर्कों के साथ दिनमान के 8, 15 और 22 नवंबर '81 के अंकों में प्रकाशित किया गया था.

यहाँ मैं जो विचार व्यक्त करने जा रहा हूँ वे किशोर भारती दल द्वारा सन् 1972 से अब तक ग्रामीण विकास और सामाजिक परिवर्त्तन के क्षेत्र में किये गये काम से संचित अनुभवों और समझ पर आधारित हैं. किशोर भारती संस्था मध्यप्रदेश के होशंगाबाद जिले के पूर्वी छोर पर बनखेड़ी प्रखंड के पलिया पिपरिया गाँव में स्थित है. इस संस्था के माध्यम से किशोर भारती ग्रुप ने आर्थिक विकास, युवक प्रशिक्षण एवं संगठन, स्वास्थ्य और स्कूलों में व स्कूलों के बाहर शिक्षा के कई प्रयोग किये हैं. यद्यपि स्वास्थ्य और आर्थिक विकास के कार्यक्रमों का असर बनखेड़ी प्रखंड व उस के आसपास के इलाकों तक ही सीमित रहा है. परंतु युवक प्रशिक्षण व संगठन और शिक्षा के कार्यक्रमों के माध्यम से हमें केवल जिले भर में ही नहीं वरन् मध्यप्रदेश के कई भागों में सक्रिय और जागरूक लोगों से संपर्क बढ़ाने और उन के साथ काम करने का मौका मिला है, इन सभी गतिविधियों का प्रमुख उद्देश्य समाज में व्याप्त भयंकर गरीबी, शोषण और विषमता के मूल कारणों को समझना और इन समाजिक अंतर्विरोधों से जूझने के तरीके खोजना रहा है. कोई भी काम उठाने के पीछे हमारी हमेशा यह समझ रही है कि अपने हरेक अनुभव का वैज्ञानिक विवेचन किया जाये ताकि इस से कुछ सामान्य सिद्धांत निकलें जिन का समाज में व्यापक उपयोग हो सके. अनुभव से सिद्धांत बनाने की इस प्रक्रिया से हम ने जो कुछ सीखा है, उसे देश के विभिन्न भागों में सक्रिय सरकारी एजेंसियों, स्वैच्छिक संस्थाओं और जन संगठन के अनुभवों से जोड़ कर लगातार समृद्ध किया है. हम उन सभी कार्यकर्त्ताओं एवं विचारकों के आभारी हैं जिन्होंने समय समय पर अपने अनुभव व समझ को हमारे सामने रख कर हमें सामाजिक न्याय व विकास के लिए चल रहे राष्ट्रव्यापी संघर्ष का अंग बनाने में मदद की है.

आगे बढ़ने के पहले मैं एक बात और कहना जरूरी समझता हूँ. मैं जो कुछ भी कहने जा रहा हूँ, उस का काफी अंश विभिन्न सरकारी व स्वैच्छिक संस्थाओं और जन संगठनों द्वारा किये गये काम के अनुभवों पर आधारित होगा. इन अनुभवों का जिक्र समाज में व्याप्त अंतर्विरोध को उभारने और ऐसी परिकल्पनाओं को विकसित करने के उद्देश्य से किया गया है जिन्हें भविष्य में परखा जा सके. इन अनुभवों को प्रस्तुत करने का उद्देश्य सामाजिक परिवर्त्तन के काम में जुटे हुए किसी भी व्यक्ति या संस्था की आलोचना करना नहीं है. मैं उन सभी लोगों को अपना साथी मानता हूँ जो हमारी ही तरह अपने-अपने तरीकों से विभिन्न संस्थाओं व संगठनों में सामाजिक अन्याय, गैरतार्किकता, रूढ़िवादिता और पिछड़ेपन के अन्य कारणों के खिलाफ संघर्ष में जूझ रहे हैं. आशा है कि यहाँ पर प्रस्तुत किये जा रहे विचारों के माध्यम से मैं अलग अलग जूझ रहे इन लोगों के संघर्ष को राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में रख पाने में कुछ मदद दे पाऊँगा.

पाँच अनुभव

सब से पहले मैं एक ऐसी गोष्ठी की कहानी सुनाना चाहता हूँ, जो छठी पंचवर्षीय योजना के संदर्भ में विज्ञान और तकनोलॉजी की शिक्षा के स्वरूप का पुनरावलोकन करने के लिए पिछले साल लगभग इसी समय बुलायी गयी थी. इस गोष्ठी का उद्देश्य योजना आयोग को यह सुझाव देना था कि विज्ञान और तकनोलॉजी की शिक्षा को भारत की आर्थिक व सामाजिक परिस्थिति के अनुसार कैसे अधिक सार्थक बनाया जाये. गोष्ठी में देश भर से कई प्रख्यात शिक्षाविद् और विशेषज्ञ बुलाये गये थे. अध्यक्ष ने गोष्ठी की शुरुआत विशेषज्ञों से सुझाव आमंत्रित कर के की. विशेषज्ञों ने अलग अलग विचारों व योजनाओं से क्रियान्वयन के लिए एक के बाद एक अपने सुझाव देने शुरू कर दिये. जब सुझावों की झड़ी लग गयी, तब हम में से कुछ लोग धैर्य खो बैठे और हम ने गोष्ठी को रोक कर पूछा कि क्या विज्ञान और तकनोलॉजी शिक्षा के मामले पर पिछली पाँच पंचवर्षीय योजनाओं की कोई समीक्षा उपलब्ध है. जैसा कि अपेक्षित था, वहाँ कोई भी ऐसी किसी समीक्षा का संदर्भ नहीं दे पाया. तब हम ने सुझाया कि पहले हम सब को यह समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि विज्ञान और तकनोलॉजी की शिक्षा को समाज की जरूरतों के अनुकूल बनाने में पिछली पंचवर्षीय योजनाओं के दौरान सफलता क्यों नहीं मिली. हमारा तर्क था कि जब तक यह नहीं समझ लिया जायेगा तब तक हमारे पास नये सुझाव देने के लिए कोई तार्किक या वैज्ञानिक आधार नहीं होगा. हमें यह देख कर अत्यंत आश्चर्य व दुख हुआ कि वहाँ इकठ्ठे हुए चोटी के विशेषज्ञों और शिक्षाविदों के उस दल को न तो हमारे द्वारा उठाये गये इन प्रश्नों में कोई रुचि थी और न ही उन पर चंद मिनट भी लगाने की तैयारी थी. लोगों की इस अरुचि को देख कर अध्यक्ष महोदय ने बात बढ़ाने का रास्ता निकाला और कहा, 'पिछली पंचवर्षीय योजनाओं में क्या गलतियाँ हुई हैं, यह तो सभी जानते हैं इसलिए हमें अब नयी शुरुआत करनी है.' इस के बाद वह गोष्ठी लगभग चार घंटे तक आराम से चली. हर विशेषज्ञ ने अपने अपने सुझाव दिये, जिन का अक्सर न तो आपस में और न ही किसी और के सुझावों से कुछ भी लेना देना होता था. सुझाव देने वालों को यह भी ध्यान नहीं रहा कि वे जो कह रहे थे, उस का ठीक वही या थोड़ा सा फ़र्क स्वरूप पहले ही अन्य पंचवर्षीय योजनाओं के तहत क्रियान्वित हो चुका था. जब भी किसी ने ऐसी बातों पर सवाल उठाने का प्रयत्न किया तो उन सवालों को जल्दी से यह कह कर रफ़ा दफ़ा कर दिया गया कि 'हमें विशेषज्ञों के कीमती समय का अधिकतम लाभ उठाना है.' गोष्ठी की समाप्ति पर मैं सोच रहा था कि क्या ये वैज्ञानिक और शिक्षाविद् अपने विषय की किसी शोध समस्या पर भी उस समस्या से संबंधित पिछला साहित्य पढ़े बिना अनुसंधान शुरू कर देंगे. स्वाभाविक है कि ऐसा नहीं होगा.

किसी भी नये काम को उठाने के पहले पुराने अनुभवों का विवेचन करने की वैज्ञानिक पद्धति को इस गोष्ठी में इतनी बुरी तरह क्यों नकारा गया? विज्ञान और तकनोलॉजी की शिक्षा को सुधारने के उद्देश्य से इकट्ठे हुए ये राष्ट्रीय स्तर के विशेषज्ञ इस निहायत गैर वैज्ञानिक प्रक्रिया से आखिर परेशान क्यों नहीं हुए? इस गोष्ठी की कहानी उन सभी गोष्ठियों के अनुभवों से फ़र्क नहीं है जिन में मुझे या मेरे साथियों को गत कई वर्षों में भाग लेने का मौका मिला है. चाहे वे गोष्ठियाँ प्रौढ़ शिक्षा की रही हों, चाहे ग्रामीण विकास की, चाहे बंधुआ मजदूरों की समस्याओं की, चाहे सहकारिता की, चाहे अनुकूल तकनोलॉजी की और चाहे स्वैच्छिक संस्थाओं की भूमिका की. इन सभी गोष्ठियों की एक सामान्य बात यह रही है कि इन में अपने और दूसरों के अनुभवों का विश्लेषण करने में कोई रुचि नहीं दिखी और न ही इतिहास से सीखने की तैयारी ही दिखी. सचमुच अचरज होता है कि भारतीय नौकरशाही और तकनीकी विशेषज्ञों के इतने वरिष्ठ कर्त्ताधर्त्ता वैज्ञानिक पद्धति के बुनियादी सिद्धांतों से इतने अछूते रह गये हैं. इस अंतर्विरोध को कैसे समझा जाये?

अब मैं एक और उदाहरण लेता हूँ. सन् 1968 में मैंने नयी दिल्ली के अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान में यूनेस्को द्वारा आयोजित जीव वैज्ञानिकों और जीव रसायनशास्त्रियों की कार्यगोष्ठी में भाग लिया. हमारे अनुरोध पर उसी कार्यगोष्ठी के दौरान एक विशेष चर्चा का आयोजन किया गया जिस का उद्देश्य यह समझना था कि भारत और तीसरी दुनिया के अन्य देशों में चल रही मलेरिया निवारण की नीति पर आनुवंशिकी (जनेटिक्स) की कई अवधारणाओं का क्या असर हुआ है. इस चर्चा के लिए एक राष्ट्र स्तरीय संस्था से मलेरिया निवारण के कुछ अग्रणी विशेषज्ञों को आमंत्रित किया गया. आप सब को याद होगा कि यह वह समय था जब मलेरिया के वापस आ जाने की अत्यंत चिंताजनक खबरें चारों ओर से मिलने लगी थीं. भारत को मलेरिया से मुक्त कर पाने का सपना तभी से टूटना शुरू हो गया था. यह वह समय था, जब डी. डी. टी. से न मर पाने वाले मच्छरों की बढ़ती हुई संख्या के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध हो चुके थे और इस कटु सत्य को नकारना

असंभव सा हो गया था. चर्चा में जीववैज्ञानिकों ने आनुवंशिकी के इन सिद्धांतों का उल्लेख किया जिन के आधार पर डी. डी. टी. से न मर पाने वाले मच्छरों की उत्पत्ति के बारे में समझा जा सकता था. जीववैज्ञानिकों ने 'उत्परिवर्त्तन' (म्यूटेशन) की उस प्रक्रिया का संदर्भ दिया जिस के कारण लगभग हर दस लाख मच्छरों में से एक ऐसा मच्छर हो सकता है, जिस पर डी. डी. टी. का कोई असर न हो. ऐसी परिस्थिति में डी. डी. टी. छिड़कने से वे सभी मच्छर मर जायेंगे जिन पर डी. डी. टी. का असर होता है, परंतु हर दस लाख में एक उस मच्छर के बच जाने की संभावना है, जो उत्परिवर्त्तन के कारण डी. डी. टी. का असर सह पाने की क्षमता पा चुका है. ऐसा मच्छर फिर प्रजनन करेगा और उस की संतानें भी ऐसी होंगी जिन पर डी. डी. टी. का कोई असर नहीं होगा. यह भी स्पष्ट किया गया कि किस प्रकार दो या दो से अधिक कीटनाशक दवाइयों का एक साथ उपयोग करने से प्रतिरोधक मच्छर के बच जाने की संभावना दस लाख या उस से भी कई गुना अधिक कम हो जायगी. इस सिद्धांत का व्यावहारिक उपयोग यह बताया गया कि डी. डी. टी. के साथ एक या दो अन्य कीटनाशक दवाइयाँ मिला कर छिड़की जायें और इस प्रकार देश को प्रतिरोधक मच्छरों से बचा लिया जाये. यह सब सुन कर भी मलेरिया विशेषज्ञों के कानों पर जूं तक नहीं रेंगी.

उन में से वरिष्ठतम विशेषज्ञों ने नम्रतापूर्वक कहा कि उन का लेना देना मलेरिया निवारण के व्यावहारिक कार्यक्रमों से है न कि जीवविज्ञान के सिद्धांतों से, जो वैज्ञानिक तथ्यों पर आधारित ज़रूर होंगे. परंतु उन की उपयोगिता प्रयोगशाला की चहारदीवारी तक ही सीमित है. उन्होंने आगे कहा कि राष्ट्रीय मलेरिया निवारण कार्यक्रम को विश्व स्वास्थ्य संगठन (वर्ल्ड हेल्थ आर्गेनाइज़ेशन) की स्वीकृति मिली है और उस का वित्तीय व तकनीकी समर्थन भी प्राप्त है. उन के अनुसार डी. डी. टी. छिड़कने का कार्यक्रम जोर शोर से देश भर में चालू है और उस में मात्र सिद्धांतों के आधार पर परिवर्त्तन करना संभव नहीं है. जब जीववैज्ञानिकों ने अपने तर्क पर और ज़ोर दिया तो विशेषज्ञों ने आश्वासन दिया कि यदि कुछेक प्रतिरोधक मच्छर बच भी जायेंगे तो भी खास फ़र्क नहीं पड़ने वाला. चूँकि कार्यक्रम राष्ट्रव्यापी है. 'मात्र कुछ प्रतिरोधक मच्छरों के कारण हमें अपने दृढ़ निश्चय से डगमगाना नहीं चाहिए.' विशेषज्ञों ने ज़ोर दे कर कहा. स्पष्ट है कि जीववैज्ञानिक इस तर्क वितर्क में हार गये, परंतु जैसा कि सभी जानते हैं कि प्रतिरोधक मच्छर जंग जीत गये. ऐसा क्यों हुआ कि मलेरिया निवारण के काम में जुटे हुए देश के अग्रणी विशेषज्ञों ने वैज्ञानिक तर्कों और जीववैज्ञानिक तथ्यों की अवहेलना की? ऐसा मानना बहुत मुश्किल है कि ये विशेषज्ञ आनुवंशिकी के इन तर्कों व तथ्यों से अनभिज्ञ थे. सवाल उठता है कि विश्व स्वास्थ्य संगठन जैसी विख्यात व सक्षम संस्था ने आखिर क्यों डी. डी. टी. के छिड़काव का कार्यक्रम जारी रखा जब कि वैज्ञानिक सिद्धांतों ने इस कार्यक्रम के आधार को ही चुनौती दे दी थी. इस गैरतार्किक निर्णय का बुनियादी कारण क्या हो सकता है? यह अचरज की बात है कि डी. डी. टी. प्रतिरोधक मच्छरों की संख्या के तेज़ी से बढ़ने की जानकारी वैज्ञानिकों तक तो क्या, आम पढ़ी लिखी जनता तक पहुँच जाने के बावजूद आज भी गाँवों में डी. डी. टी. का छिड़काव बेरोकटोक जारी है. उतना ही अविश्वसनीय यह तथ्य भी है कि सहायता देने वाली अंतरराष्ट्रीय

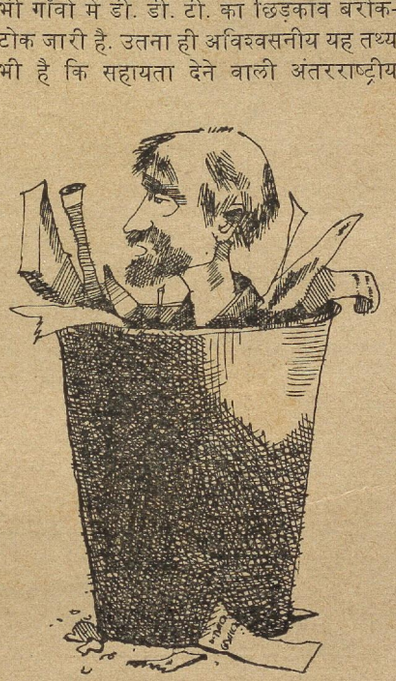

स्तर की एक सुप्रसिद्ध संस्था अभी भी देश के संसाधनों और मानव शक्ति की इस बर्बादी का न केवल समर्थन भर कर रही है, वरन इस प्रक्रिया को प्रोत्साहन भी दे रही है. इस से भी अधिक परेशानी की बात तो यह है कि देश के जाने माने तकनीकी विशेषज्ञों और शीर्षस्थ राष्ट्र नेताओं ने स्वास्थ्य की ऐसी भयंकर समस्या के निवारण कार्यक्रम की स्पष्ट गड़बड़ियों को देख कर भी अनदेखा कर दिया है.

अब तक की बात से कहीं यह भ्रम न हो जाये कि हम मात्र कुछ इनी गिनी घटनाओं के बल पर तिल का ताड़ बना रहे हैं. वास्तव में हमारा यह दावा है कि ये अनुभव देश में चल रही अनेक प्रक्रियाओं के संकेत मात्र हैं. आइए अब एक तीसरा उदाहरण लें.

एक अग्रणी राष्ट्र स्तरीय संस्था द्वारा तैयार की गयी पाठ्यपुस्तक में जनसंख्या के विषय पर अध्याय हैं, जिन का उद्देश्य बच्चों में देश की इस महत्त्वपूर्ण समस्या के प्रति जागरूकता पैदा करना है. हमने इन अध्यायों का बहुत बारीकी से अध्ययन और विवेचन किया है. इन अध्यायों में तर्क दिया गया है कि जनसंख्या तेजी से बढ़ने के कारण बढ़ते हुए उत्पादन का कोई खास लाभ देश को नहीं मिल पाता और गरीबी बढ़ती रहती है. इन अध्यायों में यह समझाने का प्रयत्न किया गया है कि भारत की गरीबी का प्रमुख कारण बढ़ती हुई आबादी है और इन्हीं तर्कों के आधार पर यह कहा जाता है कि गरीबी की समस्या जनसंख्या की वृद्धि पर नियंत्रण कर के और उत्पादन बढ़ा कर ही हल की जा सकती है. इन पाठ्यपुस्तकों में कहीं भी यह समझाने का प्रयास नहीं है कि भारत के गोदाम अनाज से भरे रहने के बावजूद भी ऐसा क्यों है कि अनाज उगाने वाले करोड़ों मेहनतकश लोग स्वयं कुपोषित रहते हैं और अक्सर भूख से मर भी जाते हैं. इन पाठ्य पुस्तकों में संसाधनों के असमान वितरण, समाज में व्याप्त विषमताओं और गरीबी की रेखा के नीचे बसर करने वाले लोगों की क्रय शक्ति की अत्यंत सीमित क्षमता जैसी बातों का कहीं जिक्र नहीं है.

इस संदर्भ में आप को अपना एक अनुभव सुनाता हूँ. लगभग दो वर्ष पहले होशंगाबाद जिले के 400 शिक्षकों के लिए आयोजित एक विज्ञान प्रशिक्षण शिविर में हम ने कुछ शिक्षकों से होशंगाबाद शहर और आसपास के गाँवों के कुपोषण की समस्या का सर्वेक्षण करने को कहा. इस सर्वेक्षण का उद्देश्य शिक्षकों को अपनी पर्यावरण की किसी समस्या के आधार पर वैज्ञानिक तरीके से आँकड़े इकट्ठे करने और उन का विवेचन करने का प्रशिक्षण देना था. शिक्षकों को जब यह काम करने का सुझाव दिया गया तो उन्हें यह मजाक लगा क्योंकि उन्होंने सुन रखा था कि होशंगाबाद जिला गेहूँ के विपुल उत्पादन का क्षेत्र है. और यहाँ से, भारी मात्रा में गेहूँ का निर्यात होता है. यदि यह सच है तो कुपोषण की समस्या और वह भी जिले के मुख्यालय के आसपास कैसे हो सकती है? 'हो सकता है कि कुपोषण की समस्या दूर-दराज के किसी आदिवासी गाँव में दिखे, पर होशंगाबाद शहर से इस का क्या लेना देना?' एक शिक्षक ने अपना एक मत प्रकट किया. इस सब के बावजूद हम ने शिक्षकों को सर्वेक्षण करने के लिए मनवा ही लिया. कुछ ही घंटों में ठीक होशंगाबाद शहर से ही भयंकर रूप से कुपोषित बच्चे मिलने की जानकारी इकट्ठी होने लगी. दिन ढलते ढलते शिक्षकों के पास यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त आँकड़े इकट्ठे हो गये कि कुपोषण की समस्या विशेष रूप से हरिजन और आदिवासी मुहल्लों में व्याप्त है. इन आंकड़ों के आधार पर हम ने अगला प्रश्न उठाया, 'यह कैसी अजीब बात है कि इस इलाके का लगभग हर गाँव गेहूँ का निर्यात करता है जब कि उन्हीं गाँवों में बच्चे कुपोषण से पीड़ित हैं?

अब मामला कुछ साफ हो चला था और कुछ तेज शिक्षकों ने बुनियादी सवाल उठा ही दिया, 'तब क्यों हमारी पाठ्यपुस्तकों में लिखा रहता है कि भारत की गरीबी का मुख्य कारण बढ़ती हुई आबादी है.' क्या यह जरूरी नहीं है कि हमारी पाठ्यपुस्तकों में यह स्पष्ट किया जाये कि बढ़ते हुए उत्पादन का लाभ गरीबी की रेखा के नीचे रहने वाले लोगों तक नहीं पहुँच पाता? ऐसा क्यों है कि इन पुस्तकों में समाज के इस बुनियादी अंतर्विरोध का संकेत मात्र भी नहीं है? क्या आप को आश्चर्य नहीं होता कि उत्पादन आबादी की जिस भ्रांति को होशंगाबाद जिले के शिक्षकों ने एक वैज्ञानिक सर्वेक्षण में ही पकड़ लिया, उसे राष्ट्र स्तर की एक अग्रणी संस्था, जिसे देश भर के बच्चों के लिए शिक्षा प्रणाली विकसित करने की जिम्मेदारी सौंपी गयी है, आज तक नहीं पकड़ पायी है?

अब तक जो मुद्दे उभरे हैं, उन की पुष्टि के लिए मैं एक और उदाहरण आप के सामने पेश करता हूँ. तीन साल पहले राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद (एन. सी. ई.आर. टी.) के एक विभाग के अध्यक्ष के कमरे में मेरा परिचय ब्रिटिश काउंसिल के एक विशेषज्ञ से हुआ.

उस विशेषज्ञ ने मुझे बताया कि वह एन. सी. ई. आर. टी. को दृश्य श्रव्य साधनों, विशेष कर स्लाइड टेप सिरीज बनाने के बारे में परामर्श देने भारत भेजे गये हैं. मैंने उन से जानना चाहा कि क्या वह भारतीय स्कूलों की दशा के बारे में कुछ जानते हैं—जहाँ चाक व टाट पट्टी तक खरीदने के लिए पैसे नहीं होते या जहाँ बिल्डिंग के नाम पर पाँच कक्षाओं के लिए मात्र एक कमरा होता है और वह भी कई बार भूतपूर्व जमींदार की दया से उधार मिला होता है—ऐसी परिस्थिति में बिजली का सवाल ही कहाँ उठता है. ब्रिटिश काउंसिल के विशेषज्ञ यह सब पहले से ही जानते थे. स्वाभाविक था कि तब मैंने उन से यह जानना चाहा कि भारतीय स्कूलों पर इतनी असंगत सी योजना थोपने के पीछे ब्रिटिश काउंसिल का मकसद क्या है. मेरे इस सवाल का विशेषज्ञ महोदय के पास कोई जवाब नहीं था.

इस के बावजूद अजीब बात यह है कि ब्रिटिश काउंसिल के इस कार्यक्रम को आगे बढ़ाया गया. इस प्रकार विज्ञान शिक्षण और प्रशिक्षण के क्षेत्र में कार्यरत देश भर के सैकड़ों कार्यकर्त्ताओं को इस काम के लिए प्रशिक्षित किया गया है और वे आजकल विभिन्न प्रशिक्षण संस्थाओं और विज्ञान शिक्षण के केंद्रों में महँगी स्लाइड टेप सीरीज बनाने के काम में अंधाधुंध जुटे हुए हैं. गत माह जबलपुर में आयोजित शिक्षण प्रशिक्षकों की एक राज्य स्तरीय गोष्ठी में ऐसी कई स्लाइड टेप सीरिज बहुत शान से प्रदर्शित की गयीं.

विदेशी सहायता से प्राप्त महँगे कैमरे, प्रोजेक्टर और टेप रिकार्डर जैसे आधुनिकतम उपकरणों से लैस हो कर ये शिक्षक प्रशिक्षक इस भ्रम में पड़ गये लगते थे कि जैसे वे वास्तव में एक उन्नत तकनोलॉजी की दुनिया में पहुँच गये हैं—बिना यह सोचे समझे कि आखिर इस सब साज सज्जा का लाभ क्या है. जब किसी ने भी यह पूछने की कोशिश की कि इन बहुमूल्य प्रदर्शनों का उपयोग क्या है तो इन शिक्षक प्रशिक्षकों से कोई उत्तर नहीं बन पड़ता था.

आधुनिक तकनोलॉजी के भुलावे की दुनिया में ये विशेषज्ञ इतने खो गये थे कि उन्हें इस बात का अहसास भी नहीं था कि उन के द्वारा निर्मित स्लाइड टेप सिरीज की भाषा कितनी संस्कृतनिष्ठ हो गयी थी. भाषा इतनी मुश्किल हो गयी थी कि उसे प्राथमिक शालाओं के बच्चे समझ तक नहीं पाते. जबलपुर गोष्ठी में बच्चों के प्रति देखी गयी संवेदनशीलता की इस हद तक की कमी आधुनिकीकरण की इस दौड़ पर गहरे सवाल खड़े कर देती है.

बात यहाँ ही खत्म नहीं हुई. स्लाइड टेप द्वारा बच्चों को सलाह दी गयी थी कि वे खूब फल सब्जी, दूध, मक्खन, अंडा और माँस जैसी चीजें खायें. इस से साफ था कि सलाह देने वालों को गरीबी की उस परिस्थिति का आभास तक नहीं है जिस से वे अधिकतर बच्चे आते हैं.

जब विशेषज्ञों का ध्यान उपदेशों और यथार्थ के बीच की इस खाई की ओर आकर्षित किया गया तो एक ग्रामीण शिक्षक ने बीच में टोक कर कहा, 'आप नाहक परेशान हो रहे हैं. यह सब शानदार सामान हमारे स्कूलों तक कभी नहीं पहुँचेगा.' यह सीधी सच्ची बात जिसे गाँव का एक शिक्षक इतनी अच्छी तरह समझता है, वह इस कार्यक्रम को चलाने वाले राष्ट्र स्तरीय विशेषज्ञों और अंतरराष्ट्रीय संस्थाओं के पल्ले नहीं पड़ पायी. इस पूरे कार्यक्रम की निरर्थकता और भी ज्यादा उभर आती है, जब यह पता चलता है कि इन शानदार व महँगी स्लाइड टेप सिरीज को बनाने वाले अधिकांश लोगों ने बच्चों के लिए दीवार पर टाँगने वाले सीधे सादे चार्ट तक बनाने में न तो पहले कभी कोई रुचि ही दिखायी है और न ही इस साधारण काम में अपनी योग्यता का कोई सबूत दिया है. मान लीजिए कि यदि राष्ट्रीय संसाधनों और शक्ति की इस बर्बादी पर लोकसभा में प्रश्न उठाया जाये तो देश की सामाजिक व आर्थिक सच्चाई को नकार कर चलाये जाने वाले ऐसे कार्यक्रमों के पक्ष में कहने के लिए एन. सी. ई. आर. टी. के पास होगा क्या.

मैंने अभी तक जो कुछ भी कहा है, उस से शायद ऐसा लगने लगा होगा कि यदि ऐसी गैर वैज्ञानिक परंपराएँ और गैर तार्किक सोच केवल उच्च शिक्षा प्राप्त और अभिजात तबके के लोगों की खासियत है और इसलिए इस का असर केवल राष्ट्रीय स्तरीय संस्थाओं पर ही दिखता है परंतु यह सही नहीं है. गैर तार्किक प्रक्रियाएँ तो ऊपर से नीचे तक पूरे समाज में ही व्याप्त हैं. एक उदाहरण लीजिए. आज से दस साल पहले मुझे नासिक में आयोजित एक सर्वोदय सम्मेलन में भाग लेने का मौका मिला जिस की अध्यक्षता स्वर्गीय श्री जयप्रकाश नारायण स्वयं कर रहे थे. इस सम्मेलन में ग्रामदान आंदोलन को सशक्त (पुष्टिकरण) करने के लिए कुछ चुने हुए इलाकों में सघन काम करने का निर्णय लिया गया. हर राज्य को सघन प्रयास के लिए तीन तीन जिले चुनने को कहा गया ताकि उन में ग्रामदान के कुछ सफल परिणाम दिखाये जा सकें.

इस के बाद हर राज्य स्तरीय इकाई की बैठक अलग अलग हुई. उत्तर प्रदेश इकाई की बैठक में राज्य स्तरीय सचिव ने कार्यकर्त्ताओं को तीन जिलों का नाम सुझाने को कहा. किसी की भी कुछ बोलने की हिम्मत नहीं हुई. तब सचिव ने स्वयं ही बोलना शुरू कर दिया. उन्होंने प्रस्ताव दिया कि सब से पहले बलिया जिले को चुनना चाहिए 'क्यों कि जे. पी. का जन्म वहाँ हुआ था.' उन्होंने बेहिचक अलग प्रस्ताव दिया कि दूसरा जिला आगरा होना चाहिए क्योंकि राज्य स्तरीय इकाई के अध्यक्ष वहाँ के ही थे और स्वाभाविक था कि तीसरा जिला वह होना चाहिए जहाँ से वह स्वयं आये थे.

इस चयन के आधार पर न तो कोई चर्चा हुई और न कोई प्रश्न पूछे गये. तीन सौ सर्वोदयी कार्यकर्त्ताओं द्वारा तत्काल उत्साहपूर्वक हाथ उठा कर दिये गये. समर्थन ने मुझे चकित कर दिया. हैरत की बात तो यह थी कि किसी इलाके की आर्थिक व सामाजिक परिस्थिति का आकलन किये बिना, वहाँ के स्थानीय कार्यकर्त्ताओं की तैयारी के बारे में सोचे समझे बिना और ग्रामदान के प्रति उस क्षेत्र के लोगों का रुख जाने बिना एक पूरे वर्ष का कार्यक्रम तय कर लिया गया. सवाल उठता है कि श्री जयप्रकाश नारायण का जन्म भर हो जाना उस जिले के चयन का सही आधार कैसे मान लिया गया. आखिर क्यों सर्वोदय के मंजे हुए सैकड़ों कार्यकर्ताओं ने इस पर बिना कोई सवाल उठाये इसे स्वीकार लिया? क्या उन्हें सचिव द्वारा प्रस्तुत तर्कों में कोई कमी नहीं दिखी? क्या यह सर्वोदयी कार्यकर्त्ताओं को दिये गये प्रशिक्षण की पद्धति में या यूँ कहिए कि पूरी सर्वोदयी परंपरा में एक बहुत बड़ी कमी नहीं दिखाता है?

अनुभवों से सिद्धांतों का विकास

आइए, अब हम अपने समाज के इस गैर तार्किक रवैये की जड़ें पहचानने का प्रयत्न करें. इन जड़ों को पहचान कर और इन की गहराई का अंदाज पा कर ही हम ऐसे कार्यक्रम सोच सकते हैं जिन से आज की अंतर्विरोधों से भरी परिस्थिति का कुछ हल निकल सके. इस समय मुझे हमारे द्वारा सन् 1972 में 40 ग्रामीण शिक्षकों के लिए आयोजित पहले विज्ञान प्रशिक्षण शिविर की याद आ रही है. हम ने शिविर के पहले दिन ही शिक्षकों से उन के सामने पड़ी हुई एक मेज की लंबाई बारी बारी से नापने को कहा. शिक्षकों ने पैमाने से एक एक कर के बहुत सावधानीपूर्वक मेज की लंबाई नापी और अपने अपने आँकड़े कागज की पर्चियों पर लिख लिये. प्रयोग के अंत में सभी शिक्षकों के आँकड़े श्यामपटट पर लिख दिये गये. परंतु आँकड़े सामने आते ही शिक्षकों में अचानक खुसुर पुसुर शुरू हो गयी. शिक्षकों के नाप 98 सें. मी. से ले कर 108 सें. मी. तक फैले हुए थे. आँकड़ों का यह फैलाव शिक्षकों को परेशान कर रहा था और उन में से कुछ ने 'इस ने सही नहीं नापा' या 'उस ने सही नहीं नापा' कह कर विरोध प्रकट किया. प्रयोग दोहराया गया. आँकड़ों का फैलाव कुछ कम हुआ—अब आँकड़े 100 सें. मी. से 106 सें. मी. तक थे. तीसरी बार यह फैलाव कुछ और घट कर 101 सें. मी. से 105 सें. मी. तक रह गया. परंतु सच्चाई यह थी कि फैलाव बना रहा, शून्य नहीं हुआ. निष्कर्ष यह निकल रहा था कि अभ्यास कर के और अपना प्रायोगिक कौशल बढ़ा कर फैलाव को घटाया जरूर जा सकता है परंतु उसे शून्य नहीं किया जा सकता.

शिक्षकों में तो हलचल मच गयी. ऐसा कैसे हो गया? 'विज्ञान तो शाश्वत सत्य है', एक शिक्षक ने दार्शनिक अंदाज में कहा. 'सत्य एक से अधिक तो हो ही नहीं सकता. विज्ञान में एक प्रश्न के अनेक उत्तर कभी आ ही नहीं सकते'. एक अन्य शिक्षक ने अपनी गहरी परेशानी व्यक्त की. अधिकांश ने जोर दे कर कहा कि न तो पैमाने की और न ही मेज की लंबाई बदल रही है, फिर आँकड़ों में घट बढ़ कैसे हो सकती है? अवलोकनों में कुछ घट बढ़ तो होगी ही, यह मानना शिक्षकों के लिए अपने एक गहरे पैठे हुए मूल्य को चुनौती देने जैसा सिद्ध हुआ है. सन् 1972 से आज तक हम लगभग हर साल शिक्षकों के नये नये दलों को यह प्रयोग करवाते रहे हैं. हर बार वही अनुभव रहा है. इस अनुभव को पचा पाने में हमारे विज्ञान शिक्षकों को सांस्कृतिक स्तर पर दिक्कत आयी है. परंतु अब धीरे धीरे लग रहा है कि होशंगाबाद जिले के 200 से भी ज्यादा मिडिल स्कूलों में पढ़ाने वाले लगभग 600 विज्ञान के शिक्षकों के जीवन में एक नया मूल्य विकसित हो रहा है—कुछ न कुछ अंतर, यानी घट बढ़ किसी भी वैज्ञानिक अवलोकन की प्रक्रिया में निहित है.

अब सवाल उठता है कि अवलोकनों में इस प्रकार के अंतर क्या केवल विज्ञान में ही होते हैं या समाज विज्ञान में भी. हमारे पास अब तक समाज विज्ञान के अवलोकनों में होने वाले दो तरह के अंतर सामने आये हैं. एक तरह का अंतर अध्ययन के तरीके में गलती होने के कारण होता है. इस के लिए मैं आप को एक कहानी सुनाता हूँ. आज से लगभग दो साल पहले जब मध्यप्रदेश में भयंकर सूखा पड़ा था, तब आसपास के क्षेत्रों में सूखे का असर पता करने के लिए हम ने स्थानीय नवयुवकों का एक शिविर आयोजित किया था. कुछ नव-युवकों ने बेरोजगारी की समस्या पर सूखे के प्रभाव का सर्वेक्षण किया. कामती गाँव के एक युवक ने कहा कि उस के गाँव में बेरोजगारी की कोई समस्या नहीं है और उस के आँकड़ों से यह पता चल रहा था कि गाँव में कुएँ खोदने के लिए भी मजदूर नहीं मिल रहे हैं. उस ने अधूरे खुदे कुओं की जानकारी सब के सामने रखी. पर उसी गाँव के एक अन्य युवक ने तुरंत पहले वाले युवक द्वारा दी गयी जानकारी से अपनी असहमति जाहिर की. उस ने बताया कि काम न मिलने के कारण उसी गाँव के अधिकांश छोटे किसान व खेतिहर मजदूर रेलवे लाइनों और पी. डब्ल्यू. डी. की सड़कों पर रोजगार की तलाश में गाँव से बाहर जा चुके थे. अपने इस कथन की पुष्टि के लिए उस ने आँकड़े भी पेश किये. इस के बाद आँकड़ों का विवेचन हुआ. दोनों युवकों से प्रश्न पूछे गये और पता चला कि दोनों के आँकड़े सही थे. फिर गड़बड़ कहाँ थी? आखिर रोजगार की सही परिस्थिति क्या थी?

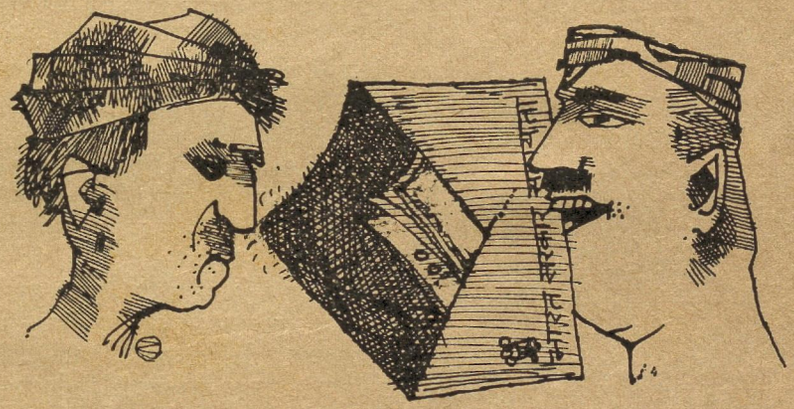

इन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ने के लिए कुछ लोग उन्हीं युवकों के साथ फिर कामती गाँव गये. उस के बाद धीरे धीरे बात समझ में आनी शुरू हुई—फर्क दोनों युवकों की आर्थिक और सामाजिक पृष्ठभूमि में था, जिस का असर उन के अवलोकनों में साफ झलक रहा था. उन में से पहला युवक एक बड़े किसान के घर का लड़का था. दूसरा युवक एक छोटे किसान के घर का था—इस का घर गाँव के गरीब मुहल्ले में था. बड़े किसान या अगल बगल के घरों में मजदूर मिलने की समस्या इसलिए उठी क्यों कि उन लोगों के यहाँ या तो मजदूरी बहुत कम मिलती थी या बिलकुल ही नहीं मिलती थी और लगातार काम मिलने की गारंटी भी नहीं थी. दूसरा युवक गरीबी के ज्यादा निकट था और रोजगार जैसी समस्या उस की अपनी समस्या भी थी. पहले युवक के अवलोकन उस की अपनी विशेष सामाजिक पृष्ठभूमि से प्रभावित हो कर सीमित हो गये थे—उन का आधार संपन्न किसानों के आइने से दिखने वाला यथार्थ था. दूसरे शब्दों में, उस युवक को दिखता वही था जो उस के अपने और उस के आसपास के संपन्न परिवारों में घट रहा था.

सवाल नजरिये का था. इस प्रकार समाज विज्ञान में अवलोकनों में अंतर इस बात पर निर्भर करेगा कि किस पृष्ठभूमि के लोगों को ध्यान में रख कर आँकड़े इकट्ठे किये गये हैं और यह सब अवलोकनकर्त्ता की अपनी सामाजिक व आर्थिक पृष्ठभूमि में जुड़ा होगा. हमारा मत है कि अवलोकन की ऐसी गलतियाँ वैज्ञानिक पद्धति के प्रशिक्षण से ठीक की जा सकती हैं, जैसा कि दो वर्ष पूर्व नवयुवकों के इस शिविर में प्रश्न पूछ कर, अवलोकन दोहरा कर और उन का विवेचन कर के करना संभव हुआ था.

समाज विज्ञान के अवलोकनों में अंतर का एक अन्य कारण भी है जिसे वैज्ञानिक पद्धति के प्रशिक्षण से दूर करना संभव नहीं है. मैं इस का भी एक उदाहरण दे कर अपनी बात स्पष्ट करने की कोशिश करूँगा. सन् 1978

में भारत सरकार के विज्ञान और प्रौद्योगिकी विभाग (डिपार्टमेंट आफ साइंस एंड टेक्नोलॉजी) ने एक दल ओडिसा के पुरी जिले में भेजा था. मुझे भी इस दल के सदस्य के रूप में ओडिसा जाने का मौका मिला था. इस दल को पुरी जिले के पाँच गाँवों के एक समूह के विकास के लिए योजना बनाने का काम दिया गया था. हम लोग भुवनेश्वर में कुछ समय के लिए रुके और उसी दौरान सरकारी विशेषज्ञों ने उन के द्वारा किये हुए उन्हीं पाँच गाँवों के सर्वेक्षण की संक्षिप्त जानकारी हमें दी. हमें बताया गया कि उस क्षेत्र की सब से प्राथमिक जरूरत एक आधुनिक गोसंवर्धन या पशु विकास कार्यक्रम की है जिस के तहत कृत्रिम गर्भाधान, हरा चारा उगाने, पशु चिकित्सा और पशु आहार की सुविधाएँ उपलब्ध करायी जायें. परंतु जब हम उस क्षेत्र में पहुँचे तो वहाँ की भयंकर गरीबी और सूखे की परिस्थिति देख कर चक्कर में पड़ गये.

हमें समझ नहीं आया कि ऐसे सूखाग्रस्त व गरीब क्षेत्र के लोगों की प्राथमिक जरूरत गोसंवर्धन जैसा कार्यक्रम कैसे हो सकती है. खेतिहर मजदूरों या गरीब किसानों की प्राथमिकता क्या है, यह समझने के उद्देश्य से हम ने खेतों पर मजदूरी कर रहे कुछ मजदूरों से पूछा, 'मान लीजिए कि सरकार आप की गरीबी दूर करने के लिए कुछ करना चाहे तो आप सरकार से क्या माँग करेंगे?' उन में से एक ने सामने की वीरान पहाड़ी की तरफ इशारा कर के कहा कि बहुत ही अच्छा हो यदि उस पहाड़ी पर जंगल लगा दिया जाये. उन्हीं में से एक अन्य व्यक्ति ने सुझाया कि महुआ जैसी वनोपज के ठेके छोटे छोटे हिस्सों में बाँट कर बैंकों से ऋण दिलवा कर सीधे गरीब लोगों को दिये जायें ताकि उत्तर भारत के बड़े बड़े ठेकेदार उस क्षेत्र की दौलत लूट कर न ले जा पायें. एक तीसरे व्यक्ति ने कहा कि बड़े किसानों की व खाली पड़ी हुई अतिरिक्त सरकारी जमीन को भूमिहीन लोगों में बाँट देना चाहिए. उन में से एक ने भी गोसंवर्धन या पशु विकास कार्यक्रम का जिक्र तक नहीं किया. अब आप ही सोचिए कि भुवनेश्वर में हमें दी गयी जानकारी का आधार क्या रहा होगा. जब हम ने सरकारी विशेषज्ञों को फिर कुरेदा तो उन्होंने झुँझला कर कहा कि आप तो 'गलत लोगों' से बात कर रहे हैं. वे हमें उस इलाके के कुछ संपन्न किसानों के घर ले गये जहाँ हमारी खूब खातिरदारी हुई और हम से कहा कि हम नयी दिल्ली की सरकार को इस इलाके में एक अच्छा सा गोसंवर्धन कार्यक्रम चलाने का सुझाव दें.

समाज विज्ञान में अवलोकनों में अंतर क्यों हो जाता है, यह बात शायद इस उदाहरण से कुछ उभर पायी हो. यदि संपन्न किसानों, सरकारी विशेषज्ञों व अन्य निहित स्वार्थों के नजरिये से देखा जाये तो उच्च तकनोलॉजी व बड़े बजट वाले आर्थिक विकास के कार्यक्रम ग्रामीण इलाकों की प्राथमिकता लगने लगते हैं, परंतु जब इसी समस्या को भयंकर गरीबी के आइने से देखा जाये तो प्राथमिकता वर्त्तमान स्रोतों के पुनर्वितरण और उन के उपयोग व व्यवस्था की प्रणाली को बदलने की बन जाती है. हमारे पास ढेरों सबूत हैं, जिन से यह पता चलता है कि अवलोकनों में ऐसे अंतर समाज पर हावी निहित स्वार्थों के कारण हैं. वैज्ञानिक पद्धति का प्रशिक्षण इस मामले में आखिर क्या कर सकता है?

यह हमारा अनुभव रहा है कि जब भी आर्थिक हितों और राजनैतिक सत्ता का सवाल उठता है तो वैज्ञानिक पद्धति की सीमाएँ अपने आप आ जाती हैं. हम ने इस विषय की गहराई में उतर कर पूरी बात समझने की कोशिश की है और हमें यह देख कर बहुत आश्चर्य हुआ है कि अवलोकनों में होने वाले ऐसे अंतरों का ग्रामीण विकास की प्रमुख दिशा व प्राथमिकताओं पर किस कदर असर पड़ता है. हमें इस गड़बड़ी का पहला अहसास अपने ही एक अनुभव से हुआ. सन् 1972 में हम ने बनखेड़ी प्रखंड में गोसंवर्द्धन का एक छोटा सा कार्यक्रम शुरू किया जिस के तहत एक उत्तम नस्ल के संकर साँड की सेवाएँ उपलब्ध करा दीं. उस समय पशु विकास के कुछ अग्रणी विशेषज्ञों ने हमें सलाह दी कि ग्रामीण बेरोज़गारी की भयंकर समस्या से जूझने और उसे हल करने के लिए 'संकर गाय पालने से बेहतर कोई और कुटीर उद्योग नहीं है.' हमें बार बार बताया जाता था कि गुजरात के खेड़ा ज़िले में अमूल और महाराष्ट्र के पुणे ज़िले में उरुलिकांचन गाँव में स्थित भारतीय कृषि उद्योग प्रतिष्ठान जैसी संस्थाओं को दूध उद्योग के माध्यम से ग्रामीण विकास करने में कितनी सफलता मिली है. इस कार्यक्रम को तीन साल चलाने के बाद हम लोगों ने आँकड़े इकट्ठे कर के यह समझने का प्रयास किया कि संकर गायों का लाभ किस तबके के लोगों तक पहुँचा था.

हमें पता चला कि इस कार्यक्रम का लाभ उठाने वाले अधिकतर लोग संपन्न किसान और पास के एक शहर के धनी वकील, व्यापारी इत्यादि थे. कुछ मध्यमवर्गीय किसानों ने भी इस का लाभ उठाया, परंतु एक भी गरीब किसान या खेतिहर मजदूर इस का लाभ नहीं उठा पाया. ऐसा कार्यक्रम गरीबी दूर करने में कैसे मददगार होगा. यह हमारी समझ के परे था. अपने इन आँकड़ों से हम इतने परेशान हुए कि हम ने होशंगाबाद ज़िले में ही गोसंवर्धन कार्यक्रम में कार्यरत एक अन्य संस्था के आँकड़ों का विवेचन किया. हमारे क्षेत्र की तुलना में इस संस्था के लिए शहर के निकट होने के कारण दूध बिक्री व सिंचित क्षेत्र के बीच में होने के कारण हरे चारे जैसी समस्याओं का हल ढूँढ़ना अधिक आसान था. इस के बावजूद भी हम ने यह पाया कि इस संस्था के और हमारे अनुभव लगभग एक जैसे थे. परंतु उस दौरान अखबारों में लगातार ऐसी रपटें छप रही थीं और देश भर में ग्रामीण विकास की गोष्ठियों में सुनने को मिलता था कि एक सुप्रसिद्ध संस्था का यह दावा था कि गोसंवर्धन का लाभ गाँव के हर तबके को समान रूप से मिलता है. सच्चाई पता लगाने के लिए हम ने खोजबीन शुरू की. हम ने इस संस्था के कृत्रिम गर्भाधान केंद्रों पर रखे हुए रजिस्टरों को देखा. इस संस्था द्वारा सार्वजनिक रूप से किये जा रहे दावों और उन के रजिस्टर के आँकड़ों में ज़मीन आसमान का अंतर था. यहाँ भी गाँव का गरीब तबका गोसंवर्धन कार्यक्रम के दायरे के बाहर छूट गया था. फिर आखिर राष्ट्र की यह संस्था और अनेकों महत्त्वपूर्ण सरकारी एजेंसियाँ गोसंवर्धन या संकरीकरण कार्यक्रम को गाँव की गरीबी दूर करने के लिए रामबाण के रूप में क्यों प्रस्तुत करती रहती हैं? क्या कभी आप को आमतौर पर यह विवेचन पढ़ने या सुनने को मिलता है कि गोसंवर्धन कार्यक्रम का असर गाँव के अलग अलग वर्गों पर अलग अलग है?

ऐसा लगता है कि समाज विज्ञान में जानबूझ कर कुछ खास तरह के अवलोकनों को या तो दबा दिया जाता है या उन्हें तोड़ मरोड़ कर प्रस्तुत किया जाता है. इस प्रवृत्ति के अनेक प्रमाण मिल रहे हैं. उदाहरण के लिए पिछले वर्ष आकाशवाणी भोपाल ने मेरा एक साक्षात्कार लिया. इस साक्षात्कार के दौरान मैंने किशोर भारती के गोसंवर्धन कार्यक्रम के अनुभव सुनाये, जो दो हिस्सों में थे. पहले किस्से में मैं ने हमारे कार्यक्रम से लाभान्वित लोगों की संख्या के आँकड़े दिये और हरा चारा उगाने व पशुओं की देख रेख की जानकारी फैलाने के विषय में किये गये अपने प्रयासों से अवगत कराया. वक्तव्य के दूसरे हिस्से में मैंने आँकड़े दे कर यह स्पष्ट किया कि किस प्रकार इस कार्यक्रम से गाँव की गरीबी दूर करने के उद्देश्य की पूर्ति नहीं होती. एक सप्ताह बाद जब आकाशवाणी पर टेप किया हुआ यह साक्षात्कार प्रसारित हुआ, तब उसे सुन कर हम सब भौंचक्के रह गये. मेरे वक्तव्य का पहला हिस्सा जिस में मुख्यतः उपलब्धियों की बात हुई थी प्रसारित किया गया, परंतु दूसरा हिस्सा बहुत सफाई से दबा लिया गया. वैज्ञानिक अवलोकनों को दबाने का यह एक सटीक उदाहरण था. इस उदाहरण से शायद ओडिसा वाले अनुभव को समझने में मदद मिले. स्पष्ट है कि समस्या वैज्ञानिक पद्धति की कमी की नहीं है. यहाँ पर मुद्दा निहित स्वार्थों से टकराव का है जिस के कारण वैज्ञानिक प्रक्रियाएँ रुक जाती हैं, आगे नहीं बढ़ पातीं.

अभी तक हम ने वैज्ञानिक अवलोकन की बात की है. इस के अलावा वैज्ञानिक पद्धति का एक अन्य पहलू है तार्किक चिंतन. समाज विज्ञान में तार्किक चिंतन की भूमिका को समझने की जरूरत है. एक बार फिर मैं आप के सामने अपना एक अनुभव रखता हूँ. सन् 1972 में गोसंवर्धन कार्यक्रम के साथ साथ हम ने उस इलाके में सिंचाई के कुएँ खोदने की एक नयी तकनीक की शुरुआत की. यह तकनीक रिंग के कुओं के नाम से प्रसिद्ध है. ऐसे कुओं को बनाने के लिए पहले से बनी बनायी सीमेंट कंक्रीट की रिंगों को जमीन खोद कर एक के ऊपर एक रख कर तब तक बिठाते चले जाते हैं जब तक कि नीचे पानी का स्रोत न मिल जाये. नलकूप की तुलना में रिंग के कुएँ ग्रामीण इलाकों के लिए अनुकूल तकनोलॉजी के उपयुक्त उदाहरण हैं क्यों कि ये न केवल सस्ते पड़ते हैं और केवल दो हफ्तों में तैयार हो जाते हैं बल्कि तकनीकी दृष्टि से गाँव के लोगों की पहुँच के भीतर हैं.

हमारे काम के फलस्वरूप बनखेड़ी प्रखंड और आसपास के इलाके के 100 से भी अधिक गाँवों में रिंग के कुओं का प्रसार हुआ है और आज लगभग ऐसे 450 कुओं से करीबन 5,000 एकड़ जमीन की सिंचाई हो रही है. इस से न केवल एक फसली क्षेत्र में अब दो या तीन फसलें उगायी जाने लगी हैं बल्कि रोज़गार भी बढ़ा है. ग्रामीण विकास की आम समझ के अनुसार ये आशाजनक परिणाम थे. इस के बावजूद भी हम लोगों ने रिंग के कुओं के असर का और गहराई से विवेचन किया. इस अध्ययन से पता चला कि रिंग के कुओं के कारण सन् 1977 में इस इलाके के वार्षिक कृषि उत्पादन में साढ़े बारह लाख रुपये की वृद्धि हुई. इस अतिरिक्त वार्षिक आय में से लगभग साढ़े नौ लाख रुपये कुओं के मालिक 300 किसानों को मिले, जब कि शेष तीन लाख रुपया लगभग 2,000 खेतिहर मज़दूरों में बँटा. स्पष्ट है कि मुट्ठी भर किसानों को अतिरिक्त आय का एक बड़ा अंश मिला जब कि थोड़े से अंश में बहुत सारे खेतिहर मजदूरों की भागीदारी हुई. हम ने इस से यह निष्कर्ष निकाला कि यद्यपि रिंग के कुओं से यह इलाका समृद्ध हुआ है, परतु इस से गरीबी और अमीरी की खाई और बढ़ी है

रिंग के कुओं की तकनीक का विकास होशंगाबाद शहर के पास स्थित मित्र मंडल केंद्र रसूलिया नामक संस्था ने लगभग 20 वर्ष पहले किया था. यह तकनीक होशंगाबाद के आसपास के ग्रामीण इलाके में तेजी के साथ फैली परंतु अन्यान्य कारणों से सन् 1972 तक इस का फैलाव होशंगाबाद जिले के पूर्वी क्षेत्र में नहीं हो पाया था.

रिंग के कुओं का सामाजिक प्रभाव भी विचारणीय है. हम ने देखा कि जो छोटे किसान कुओं के मालिक बनने के पहले गरीब तबके के साथ सहानुभूति रखते थे, उन की सहानुभूति में कुओं के मालिक बनने के बाद महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हुआ. उन्होंने न केवल गरीब लोगों के साथ उठना बैठना कम कर दिया और मध्यमवर्गीय व बड़े किसानों के साथ संबंध बढ़ाना शुरू कर दिया, बल्कि अपने पड़ोसी गरीब किसानों व बटाई पर खेती करने वाले मजदूरों को महँगे से महँगे भाव पर पानी बेचा. सन् 1976 में एक बार गाँव के बहुत सारे लोग मिल कर हमारे पास आये और उन्होंने गाँव के अंदर बस्ती में बिजली लगवाने के काम में हमारी सलाह माँगी. हम ने इस

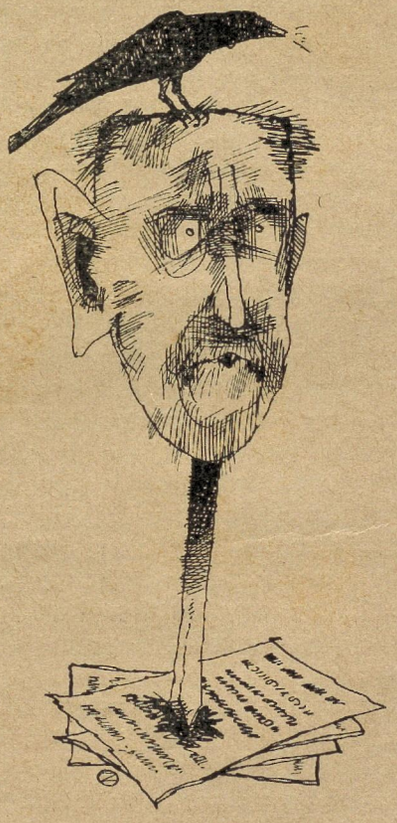

सामूहिक प्रक्रिया को प्रोत्साहित करने की कोशिश की, परंतु जैसे ही ग्राम पंचायत से सहयोग पाने में कुछ दिक्कतें आयीं तो कुछ लोगों ने जल्दी से अपने घरों में निजी कनेक्शन अलग से लगवा लिया. खोज करने पर पता चला कि जिन लोगों ने सामूहिक प्रयास से अपने को अलग कर के अपना काम करवा लिया था, उन में अधिकांश वे लोग थे जिन्होंने हाल में रिंग के कुओं से खूब पैसा बनाना शुरू कर दिया था.

कुछ ज्यादा समर्थ लोगों के अलग हो जाने से पंचायत से सहयोग पाने की सामूहिक प्रक्रिया कमजोर पड़ गयी. परिणाम यह हुआ कि गाँव के गरीब किसानों व मज़दूरों के मुहल्ले आज भी दिन ढलने पर अंधेरे में डूब जाते हैं. उस समय रिंग के कुओं वालों के जगमगाते घर कृषि विकास की दिशा पर बुनियादी सवाल खड़े कर देते हैं. दो माह पहले जब इसी गाँव में एक मजदूर संगठन बना तब रिंग के कुओं वालों ने इस प्रक्रिया में रत्ती भर सहयोग नहीं दिया. रिपोर्ट तो यह है कि कुछ ने तो सक्रिय विरोध भी किया और सामंतवादी शक्तियों का साथ दिया चूंकि उन्हें डर था कि कहीं संगठन मज़दूरी बढ़ाने की मांग न शुरू कर दे. इस प्रकार साफ पता चलता है कि आर्थिक विकास के कार्यक्रम कैसे कुछ ज्यादा समर्थ गरीब लोगों की गरीबी की रेखा के ऊपर ले जा कर शोषण करने वाली ताकतों को और मजबूत कर देते हैं व गरीब तबके के संघर्ष को क्षीण कर देते हैं.

गरीबी की समस्या का निराकरण करने में कृषि विकास की सीमा को हम ने पहचाना. अतः इस समस्या से जूझने के लिए हम ने वैकल्पिक रास्तों की खोज शुरू की. यह पता लगाने की कोशिश की कि कुटीर उद्योगों के माध्यम से रोजगार पैदा करने की संभावनाएं क्या हैं. इस के लिए ट्यूब लाइट के चोक बनाने व बढ़ईगिरी के काम उठाये. सन् 1974-75 में स्थानीय बाजारों का सर्वेक्षण कर के यह पता लगाया कि साबुन, अगरबत्ती, रस्सी, टीन के बर्तन जैसे करीब 20 कुटीर उद्योगों के उत्पादन की कितनी बिक्री हो सकती है. सन् 1976 में यह भी खोज की गयी कि बनखेड़ी प्रखंड और आसपास के ग्रामीण बाजारों में देसी जूतों और सिले सिलाये कपड़ों की कितनी खपत है. इस अध्ययन से पता चला कि 125 गाँव और एक लाख आबादी वाले बनखेड़ी ब्लाक में यदि कुल मिला कर 20-25 प्रकार के कुटीर उद्योग शुरू किये जायें तो मात्र 100 परिवारों को रोजगार मिल सकेगा. यह तो ऊंट के मुँह में जीरा डालने जैसी बात हुई.

हमने यह भी देखा कि ग्रामीण बाजारों की अधिकांश खरीद फरोख्त में केवल संपन्न और मध्यम तबके के ही लोग भाग लेते हैं गरीबों की बहुत बड़ी संख्या होने के बावजूद भी खरीद फरोख्त में उन की भागीदारी बहुत कम होती है. उस समय 10+2 शिक्षा प्रणाली की बहस गर्म थी और भारत सरकार का शिक्षा मंत्रालय +2 के चरण में व्यावसायिक प्रशिक्षण की जरूरत पर जोर दे रहा था. एन. सी. ई. आर. टी. भी स्कूली शिक्षा में उत्पादन कामों को जोड़ने की योजना (सोशली यूजफुल प्रोडक्टिव वर्क) देश भर में क्रियान्वित करने की कोशिश में था. इसी संदर्भ में हमने प्रश्न उठाया कि यदि बनखेड़ी के हायर सेकेंडरी स्कूल में व्यावसायिक प्रशिक्षण शुरू किया जाये तो उस की संभावनाएँ क्या होंगी. सर्वेक्षण से पता चला कि यदि 4-5 युवकों को विद्युत पंपसेट की मरम्मत का प्रशिक्षण दे दिया जाये

तो उन्हें बनखेड़ी व पिपरिया प्रखंडों में साल भर में मात्र कुछ महीने ही काम मिलेगा और उसी में दोनों प्रखंडों की जरूरत पूरी हो जायेगी. इसी प्रकार वर्कशाप और रेडियो मरम्मत के काम में मुश्किल से 2-3 और युवकों को रोज़गार मिलने की संभावना थी. हम आज तक यह समझ नहीं पाये हैं कि शिक्षा मंत्रालय 10+2 योजना के +2 के चरण में और एन. सी. आई. आर. टी. की उत्पादक काम की योजना में किस प्रकार के रोज़गार के प्रशिक्षण की कल्पना रही होगी.

हमारे अनुभवों, सर्वेक्षणों और विवेचन से यह पता चला है कि गाँवों में कुटीर उद्योग व व्यावसायिक प्रशिक्षण की सीमित संभावना के आधार आधुनिक तकनोलॉजी की जानकारी की कमी या सीखने की क्षमता की कमी या व्यवस्था करने की कुशलता की कमी जैसे कारण नहीं हैं, वरन् इस का आधार बाज़ार में माल बिक पाने की सीमा है. गरीबी की रेखा के नीचे बसर करने वाले लोगों की सीमित क्रय शक्ति और गाँव के बाज़ारों पर शहरी बड़े उद्योगों द्वारा निर्मित सामान का प्रभुत्व ऐसे कारण हैं जो ग्रामीण बाज़ारों की सीमाएँ तय कर देते हैं यह सारी कटु सच्चाई आंखों के एकदम सामने होने के बावजूद भी आज तक सरकारी और स्वैच्छिक संस्थाओं ने ग्रामीण विकास में कुटीर उद्योगों व व्यावसायिक प्रशिक्षण की भूमिका को बढ़ा चढ़ा कर बताना बंद नहीं किया है.

पिछले कई दशकों से देश के इस यथार्थ की इतने सारे विशेषज्ञों, नेताओं व संस्थाओं ने लगातार अवहेलना क्यों की है ? क्या कारण है कि गरीबी के निराकरण में कुटीर उद्योगों की इस सीमित भूमिका को सार्वजनिक रूप से स्वीकारा नहीं जा रहा है ? इस महत्वपूर्ण मुद्दे पर योजना आयोग की रहस्यमय चुप्पी का क्या कारण हो सकता है ? क्या यह संभव है कि इस तरह का तार्किक विवेचन देश के शिक्षित व अभिजात तबके और राष्ट्र स्तरीय नेताओं के बस के बाहर की बात है या सच्चाई कुछ और है ? कहीं सच्चाई यह तो नहीं कि पूरे अभिजात व शासक वर्ग के लिए आज के सामाजिक व आर्थिक संकट और बढ़ती हुई गरीबी जैसी विकट समस्याओं के वैज्ञानिक आधार को स्वीकार कर लेना अपने निहित स्वार्थों को स्वयं चोट पहुंचाना होगा ?

इस चर्चा में हमारी प्रमुख चिंता यह नहीं है कि गोसंवर्द्धन, सिंचाई, कुटीर उद्योग या व्यावसायिक प्रशिक्षण जैसे कार्यक्रम भारत की गरीबी दूर करने के लिए उपयुक्त साधन हैं या नहीं. परेशानी तो इस बात से है कि कई दशकों के अनुभव के बाद भी ग्रामीण विकास के कार्यक्रमों की सीमा के बारे में एक विवेचनात्मक दृष्टिकोण आम जनता से छिपा लिया जा रहा है. अपने कुछ ही वर्षों के अनुभव से हमें समझ में आ गया है कि गाँव का समाज एक विखंडित समाज है. एक ओर तो बड़े व मध्यमवर्गीय किसान, साहूकार और व्यापारी हैं जो समस्त विकास कार्यक्रमों का लाभ हथिया लेते हैं और इसीलिए ऐसे कार्यक्रमों की माँग व समर्थन करते हैं. दूसरी ओर खेतिहर मजदूर, गरीब किसान व छोटे मोटे कारीगर हैं जो विकास की प्रक्रिया के दायरे के बाहर छूट जाते हैं. योजना आयोग एवं भारत सरकार के उद्योग, ग्रामीण विकास और विज्ञान व तकनोलॉजी जैसे विभागों द्वारा बनायी गयी लुभावनी योजनाओं का इस गरीब वर्ग के जीवन से कुछ लेना देना नहीं है. जब कभी भी कोई ग्रामीण विकास की पैरवी करता है तो हमारा उस से तत्काल पूछने का मन करता है कि वह किस के विकास की पैरवी कर रहा है—मुट्ठी भर संपन्न लोगों की या गाँव की आम गरीब जनता की ? योजना बनाने वाले विशेषज्ञ और नेतागण इस स्पष्ट विवेचन को नकार कर विकास के नाम पर समाज में भ्रम फैलाते हैं और गाँव व शहर की खाई, विकेंद्रीकरण, सहकारिता, सामुदायिक योजना, पंचायती राज व जन सहयोग जैसी बातें दोहरा कर देश को इस भुलावे में रखते हैं कि गरीबी दूर करने के लिए बहुत कुछ हो रहा है. ऐसा लगने लगता है कि विकास के इन तकिया-कलामों का उपयोग कर के जान बूझ कर यह धारणा फैलायी जा रही है कि गाँव के समाज में एकरूपता है और जैसे कि शहर में गरीब नहीं रहते या गांव में अमीर नहीं रहते. हमारा यह मत है कि जब तक भारत में विकास की योजनाओं के अनुभवों के वैज्ञानिक विवेचन को टाला जायेगा या दबाया जायेगा, तब तक न तो विकास की सार्थक योजनाएँ ही बन पायेंगी और न ही गरीबी दूर होगी.

जब कभी भी तार्किक चिंतन या वैज्ञानिक दृष्टिकोण की बात उठती है, तब शिक्षित कहे जाने वाले अभिजातवर्ग के लोग अधिकतर यह कहते हुए पाये जाते हैं कि 'ये अनपढ़ और गंवार लोग इन बातों को क्या समझेंगे.' —जैसे कि विज्ञान कौशल केवल उन की बपौती हो. इन्हीं अनपढ़ और गंवार कहे जाने वाले लोगों के बीच काम कर के हमें पता चला है कि ऐसी धारणाएं कितनी निराधार हैं. इस संबंध में मुझे खादी ग्रामोद्योग कमीशन के उस प्रतिनिधि की याद आती है जो मुझे कुछ वर्ष पहले अचानक एक बैंक में मिल गये थे. वह काफी परेशान दिख रहे थे. पूछने पर उन्होंने बताया कि उन की उस समय प्रमुख जिम्मेदारी कुम्हारों की विद्युत चालित चाक, यानी पावर चाक की सुविधा दिलवाना है. उनकी परेशानी का कारण यह था कि उन की मेहनत के बावजूद एक भी कुम्हार ने पावर चाक में रुचि नहीं दिखायी. यद्यपि उन्होंने कुम्हारों को आकर्षित करने के लिए पावर चाक की कीमत में छूट, कम ब्याज पर ऋण, प्रशिक्षण, बिजली कनेक्शन इत्यादि सब तरह की सुविधा दिलवाने का आश्वासन दिया था. मैंने उन से पूछा कि उन की दृष्टि में पावर चाक जैसी अनुकूल तकनोलॉजी कुम्हारों में लोकप्रिय क्यों नहीं हो पा रही है. उन्होंने तुरंत उत्तर दिया कि इस जिले के लोग अनपढ़ व पिछड़े हुए हैं और आधुनिक तकनोलॉजी के फायदों को समझते नहीं हैं. यह बिल्कुल उसी तरह का निष्कर्ष था जिसे शिक्षित व उच्च वर्ग में व्यापक मान्यता मिली हुई है.

उन के साथ बात आगे बढ़ाने पर पता चला कि वह यह जानते थे कि इस जिले के कुम्हार साधारण चाक पर बनाये हुए सारे बर्तन भी बेच नहीं पाते थे और इसलिए उन्हें अक्सर उत्पादन का काम रोक देना पड़ता था. तब मैंने उन से पूछा कि वह ही समझायें कि जब कुम्हार साधारण चाक से निर्मित सामान को नहीं बेच पाता, तो वह ऐसे चाक का क्या करेगा जिस से उत्पादन और भी बढ़ जायेगा. आखिर कुम्हार की समस्या असल में क्या है—मिट्टी के बर्तन बेच पाने की या उन का उत्पादन बढ़ाने की ? खादी ग्रामोद्योग कमीशन के प्रतिनिधि धीरे धीरे बात पकड़ने लगे थे. उन की समझ में आने लगा था कि कमीशन के द्वारा प्रस्तुत अनुकूल तकनोलॉजी का यह उदाहरण वास्तव में अनुकूल नहीं था. अनपढ़ कुम्हारों ने स्वयं ही अपनी परिस्थिति का विवेचन कर के यह समझ लिया था कि उन की आय न बढ़ पाने का कारण क्या है और इसीलिए उन के पास पावर चाक की उपयोगिता का आकलन करने के लिए सही आधार था. इतनी सीधी सादी बात भी खादी कमीशन के विशेषज्ञ समझ नहीं पा रहे थे.

अब हाल की एक और घटना पर विचार करें. दो माह पहले हमारे नजदीक के एक गांव से लगभग 100 भूमिहीन मजदूर और गरीब किसान हमारे पास अपनी गरीबी से छुटकारा पाने के रास्ते ढूंढ़ने आये थे. उन्होंने जमीन, वनोपज के अधिकार और सरकारी शक्कर के सही वितरण की माँग की. उन्होंने संगठित हो कर सामंतवादी शक्तियों के प्रभुत्व को चुनौती देने का निर्णय किया. हम ने उन्हें याद दिलाया कि उन के इस रास्ते में कितने बड़े जोखिम हैं और किस प्रकार स्थानीय जमींदार,

एक मुखिया ने, जो दस्तखत तक करना नहीं जानता था, कहा 'हम उगात हैं, वे खाउत हैं, हम उगाना बंद कर दें तो वे भूखे मर जायें. यही हमारी ताकत है'.

सरकारी अधिकारीगण और पुलिस सब मिल कर उन के इस प्रयास को खतम कर सकते हैं. वे लोग यह सब खूब अच्छी तरह जानते थे. तब हम ने उनसे यह जानने की कोशिश की कि इस सामंतवादी गठबंधन का मुकाबला करने के लिए उन के पास क्या ताकत थी. इस पर उनके एक मुखिया ने, जो दस्तखत तक करना नहीं जानता था, कहा, 'हम उगात हैं, वे खाउत हैं, हम उगाना बंद कर दें तो वे भूखे मर जायें. यही हमरी ताकत है.' हमारे पास ऐसे ढेर सारे अनुभव हैं जिन से पता चलता है कि गरीब और शोषित लोगों में विवेचनात्मक प्रक्रिया में भाग लेने की गजब की क्षमता होती है और अपने विकास के रास्ते में आने वाले अवरोधों को वे खूब अच्छी तरह पहचानते हैं.

उभरती परिकल्पनाएं

मैंने अभी तक जो कुछ कहा है, उस से पांच प्रमुख परिकल्पनाएं उभरती हैं. ये परिकल्पनाएं इस उम्मीद से प्रस्तुत कर रहा हूं कि इन के आधार पर और इन को परखने के लिए अन्य लोग प्रयोग करेंगे व अनुभव इकट्ठे करेंगे.

1—सही अवलोकन और वैज्ञानिक विवेचन हमारे आसपास के सामाजिक व राजनैतिक यथार्थ को समझने के लिए आवश्यक साधन हैं.

2—समाज विज्ञान में यथार्थ का अवलोकन कई नजरियों से किया जाता है. यथार्थ का कौन सा पहलू किसे दिखेगा यह इस बात पर निर्भर करता है कि देखने वाले की अपनी पृष्ठभूमि क्या है. इस की तुलना में विज्ञान में यथार्थ का अवलोकन और विवेचन करने की प्रक्रिया कार्यकर्ता के मात्र वैज्ञानिक कौशल पर निर्भर करती है. उस की वर्ग पृष्ठभूमि पर नहीं.*

3—विज्ञान में सही अवलोकन और विवेचन करने की क्षमता प्रशिक्षण द्वारा विकसित की जा सकती है. परंतु समाज विज्ञान में यह हमेशा संभव नहीं होता क्यों कि बात निहित स्वार्थों के टकराव तक पहुंच जाती है. इस प्रकार समाज विज्ञान में कई ऐसे मुद्दे हैं जिन के कारण वैज्ञानिक पद्धति को लागू करने की सीमाएं आ जाती हैं.

4—वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का उपयोग करने की क्षमताएं केवल शिक्षित व अभिजात तबके तक ही सीमित नहीं हैं. अनपढ़ व शोषित लोगों में भी ये क्षमताएं होती हैं और प्रशिक्षण व अनुभव द्वारा उन्हें और अधिक आगे बढ़ाया जा सकता है,

5—समाज के विकास के लिए सार्थक और उपयोगी योजनाएं तभी बन सकती हैं जब योजना बनाने वाले विशेषज्ञ शोषित लोगों के साथ जुट कर वैज्ञानिक पद्धति

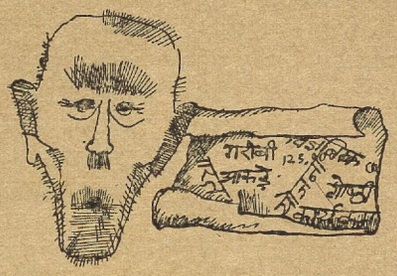

सीखेंगे. यदि ऐसा नहीं किया गया तो विकास व सामाजिक परिवर्तन के वर्तमान कार्यक्रमों और शोषित लोगों के जीवन के बीच की खाई कभी नहीं पटेगी.

शिक्षा की परिभाषा

इन परिकल्पनाओं से हमें जन आंदोलनों में विज्ञान की भूमिका समझने में मदद मिलती है. हमारी आज की समझ के अनुसार विज्ञान की प्रमुख भूमिका शोषित लोगों को अपने सामाजिक व आर्थिक यथार्थ की वैज्ञानिक पद्धति से समझने के लिए तैयार करने में है ताकि विकास और न्याय के लिए उन के संघर्ष ठोस आंकड़ों व तार्किक चिंतन पर आधारित हों. **अतः वैज्ञानिक पद्धति को अधिक से अधिक लोगों तक ले जाने की प्रक्रिया ही सही शिक्षा है जिस से लोग अपने विकास के अवरोधों को पहचान सकें और न्याय के लिए अपने संघर्षों को और मजबूत कर पायें.**

यदि जन आंदोलन में विज्ञान की यह भूमिका और शैक्षणिक प्रक्रिया की यह परिभाषा मान ली जाये तो कार्यकर्त्ताओं के प्रशिक्षण और जन संगठन बनाने के लिए वैज्ञानिक पद्धति को व्यापक रूप से फैलाना जरूरी होगा. इस सैद्धांतिक समझ का व्यावहारिक रूप क्या होगा ? इस दिशा में जो काम हुए हैं, उन से क्या सीखा जा सकता है ? शक्षणिक प्रक्रिया को विकसित करने में क्या अवरोध आते हैं ? इन सब प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ने के लिए हमें पहले यह समझ लेना चाहिए कि वैज्ञानिक पद्धति के अलग अलग तत्व क्या हैं. जिज्ञासा, अवलोकन, आंकड़े इकट्ठे और व्यवस्थित करना, विवेचन करना और निष्कर्ष निकालना इत्यादि ये सब वैज्ञानिक पद्धति के ऐसे तत्व हैं जिन के आधार पर शैक्षणिक कार्यक्रम विकसित किये जा सकते हैं. आइए, इस बात को हम एक ठोस उदाहरण द्वारा समझें. गत वर्ष दिसंबर में हम ने गांव में टी.बी. (क्षय रोग) की समस्या को ले कर एक तरुण शिविर का आयोजन किया. शिविरार्थियों की कई टीमें बनायी गयीं. इन टीमों ने कई दिनों तक अलग अलग गांवों में जा कर टी. बी. रोग का सर्वेक्षण किया. उन्होंने पता लगाया कि प्रत्येक गांव में टी. बी. के कितने मरीज हैं और उन का इलाज किस तरह से चल रहा है या नहीं चल रहा. इन तरुणों ने ऐसे परिवारों की कहानियां सुनीं जिन के लगभग सभी सदस्य तपेदिक रोग से बारी बारी खत्म हो गये थे. उन्होंने उन मरीजों से यह भी पता किया कि इन दर्दनाक परिस्थितियों में सरकारी और निजी डाक्टरों की क्या भूमिका रही और भारत सरकार के राष्ट्रीय क्षय रोग नियंत्रण कार्यक्रम का गाँव तक, खास कर गरीब तबके तक पहुँचते पहुँचते क्या रूप रह गया. इस के अलावा शिविरार्थियों ने क्षय रोग के फैलाव और इसके रोजगार व गरीबी के साथ संबंध पर जानकारी इकट्ठी की. साथ साथ उन्हें तपेदिक का इलाज करवाने के सिलसिले में किस प्रकार की सामाजिक दिक्कतें आती हैं, इस विषय पर ढेर सारे आँकड़े मिले. इन सभी आँकड़ों को संकलित कर के उन पर विवेचनात्मक चर्चा हुई.

प्रत्येक दल ने अपने अपने आंकड़ों के आधार पर सर्वेक्षण में पायी गयी समस्याओं की एक एक सूची तैयार की. इन टीमवार सूचियों के आधार पर चर्चा कर के एक बड़ी सूची बनायी गयी जिस से कुछ सामान्य मुद्दे उभरे. क्षय रोग के बारे में बात तक करने की सामाजिक मनाही पायी गयी. यह रोग अधिकतर गरीब परिवारों में देखा गया, सरकारी व निजी डाक्टर मिल कर मरीज और उस के परिवार को लूट खसोट लेते थे, इस लूट खसोट को सामंतवादी शक्तियों व अन्य बड़े लोगों का समर्थन प्राप्त था और सब से महत्वपूर्ण बात निकली कि राष्ट्रीय क्षय रोग नियंत्रण कार्यक्रम क्षय रोगियों को कोई खास लाभ नहीं मिल रहा था. इस के बाद राष्ट्रीय कार्यक्रम का लाभ गरीब तबके तक न पहुँच पाने के कारणों का विवेचन हुआ और इस से समाज के ढाँचे में आँख खोल देने वाली एक समझ उभरी.

इस पूरी वैज्ञानिक प्रक्रिया के बाद शिविरार्थी इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि राष्ट्रीय क्षय रोग नियंत्रण कार्यक्रम के रहते हुए एक नयी समांतर चिकित्सा सेवा शुरू करने का कोई महत्व नहीं है क्योंकि उस की सीमाएं भी

*लेखक का मतलब यहां पर विज्ञान के उन अनुसंधानों से है जिन का उद्देश्य किसी विषय को और गहराई से समझने के लिए उस के सिद्धांतों की खोज करना और ज्ञान बढ़ाना होता है. परंतु विज्ञान में एक और प्रकार के अनुसंधान किये जाते हैं जिनका उद्देश्य यह खोजना होता है कि विज्ञान के सिद्धांतों और ज्ञान का उपयोग समाज की जरूरतों के लिए कैसे किया जाये. जैसे कि इस दूसरे प्रकार के अनुसंधानों का सवाल उठता है वैसे ही वैज्ञानिक अध्ययन की दिशा और वस्तुनिष्ठता पर निहित स्वार्थों व वर्ग पृष्ठभूमि का असर उसी तरह से झलकने लगता है जैसा कि हम समाज विज्ञान में देख चुके हैं.

उसी प्रकार आ जायेंगी. यह निर्णय हुआ कि सब से ज्यादा महत्वपूर्ण वह कार्यक्रम होगा जिस में राष्ट्रीय कार्यक्रम के तहत मिल सकने वाली इलाज की सुविधाओं की जानकारी फैलायी जाये ताकि गरीब लोग अपने अधिकारों की माँग के लिए संघर्ष कर सकें. शैक्षणिक प्रक्रिया के इस उदाहरण से यह साफ उभरता है कि कुछ तरुणों ने कैसे अपने अनुभवों पर वैज्ञानिक पद्धति का उपयोग कर के अपना अगला कार्यक्रम तय किया.

शैक्षणिक प्रक्रिया में अवरोध

वैज्ञानिक पद्धति को शोषित लोगों के बीच फैलाने के प्रयास में हमें निम्नलिखित पाँच अवरोधों का सामना करना पड़ा है :

1—जानकारी की कमी

2—रूढ़ियों से बंधे रहने की प्रवृत्ति

3—भाग्य पर भरोसा

4—निहित स्वार्थों द्वारा हमले का डर

5—अमूर्त चिंतन की क्षमता की कमी.

आइए, अब इन पर बारी बारी से विचार करें.

यह एक आम अनुभव रहा है कि शोषित लोगों द्वारा अपने यथार्थ को समझने की प्रक्रिया अक्सर जानकारी की कमी के कारण आगे नहीं बढ़ पाती. जब यह कमी पूरी कर दी जाती है तो यथार्थ को समझने की क्षमता फिर से तेजी के साथ विकसित होने लगती है. इस का एक बहुत प्रभावशाली उदाहरण कालीकट ज़िले में केरल शास्त्र साहित्य परिषद (या केवल परिषद) के काम से मिलता है. कुछ वर्ष पहले परिषद ने कालीकट जिले के वालकाड गांव के पास स्थित एक बड़ी रेयान फैक्टरी द्वारा फैलाये गये प्रदूषण का मामला उठाया. यह फैक्टरी चालियार नदी के किनारे है. इस की रसायनों से भरी हुई गंदगी नदी में फेंक दी जाती थी और चिमनी द्वारा खतरनाक गैसें हवा में फैलती रहती थीं. इस प्रकार फैक्टरी के कारण जल और हवा के प्रदूषण की भयंकर समस्या खड़ी हो गयी थी. इस प्रदूषण का वालकाड गाँव के लोगों के स्वास्थ्य और उन की खेती पर बहुत बुरा असर पड़ रहा था. इस के बावजूद कई सालों तक वहाँ के गरीब लोग इस स्थिति को चुपचाप सहते रहे. परिषद ने कालीकट मेडिकल कालेज के विद्यार्थियों को प्रोत्साहित कर के उस गाँव के लोगों के स्वास्थ्य का सर्वेक्षण करवाया.

सर्वेक्षण से पता चला कि वहाँ के बहुत से लोगों को फेफड़े की एक विशेष बीमारी है, जो हवा में सल्फर डाइआक्साइड व कार्बन मोनो आक्साइड की मात्रा बढ़ने से हो जाती है. परिषद ने तब वहाँ प्रदूषण का अध्ययन करने के लिए जीव वैज्ञानिकों, रसायनशास्त्रियों, भूगर्भशास्त्रियों और इंजीनियरों का एक दल भेजा. इस टीम के लोगों ने प्रदूषण की समस्या पर एक लंबी चौड़ी रपट तैयार की और नदी के प्रदूषित हिस्सों के रंगीन चित्र उतारे. इस के अलावा इस टीम ने प्रदूषण की समस्या पर नियंत्रण पाने के लिए एक तकनीकी योजना बनायी. परिषद का अगला कदम वालकाड गाँव में सायंकालीन कक्षाएं लगाना था जिस में उन्होंने डाक्टरों और तकनीकी टीम के द्वारा इकट्ठी की हुई जानकारी गांव के गरीब लोगों तक पहुँचायी. गत वर्ष जब हम वालकाड पहुँचे तो यह देख कर दंग रह गये कि सल्फर डाइआक्साइड, कार्बन मोनोआक्साइड, प्रतिशत और घुलनशीलता जैसे तकनीकी शब्द वहाँ के अनपढ़ लोगों की रोजमर्रा की बातचीत का अंग बन चुके थे. सायंकालीन कक्षाओं का असर यह हुआ कि वालकाड गाँव के लोगों ने संगठित हो कर फैक्टरी के मालिकों से माँग की कि वे परिषद द्वारा प्रस्तुत तकनीकी योजना को क्रियान्वित कर के प्रदूषण दूर करें. वालकाड के लोगों के उतार चढ़ाव से भरे हुए संघर्ष की एक लंबी कहानी है, पर इस के आगे फैक्टरी के ताकतवर मालिकों को झुकना पड़ा क्यों कि उन के पास केरल में अपनी साख बचाने के लिए इस के अलावा अन्य कोई तार्किक रास्ता नहीं बचा था. परिषद की तकनीकी योजना अब क्रियान्वित हो रही है. वालकाड के लोगों ने अपनी पहली लड़ाई जीत ली है.

शैक्षणिक प्रक्रिया में दूसरा अवरोध समाज में व्याप्त रूढ़िवादिता के कारण उत्पन्न होता है. इस का एक अच्छा उदाहरण हमारे हाल के एक अनुभव से मिलता है. हमारे नजदीक के एक गाँव में कुछ सप्ताह पहले एक मजदूर संगठन बना. इस बात का जिक्र मैं पहले भी कर चुका हूँ. हमने मजदूर संगठन के 20-25 सदस्यों के साथ एक शिविर का आयोजन किया. संगठन के लोगों ने शुरू में ही स्पष्ट कर दिया था कि वे शिविर के दौरान अपने जातीय बंधनों के कारण किशोर भारती संस्था में भोजन नहीं करेंगे. इस बात को ले कर बहुत चर्चा हुई और अंत में तय हुआ कि वे भोजन इस शर्त पर करेंगे कि उन के द्वारा चुने गये बरौआ (कहार) जाति के लोग सब के लिए भोजन बनायेंगे और परोसेंगे. इस प्रकार शिविर में भोजन की व्यवस्था हुई. कुछ अव्यवस्था के कारण पहले दिन एकाध नीची जात के मजदूरों ने खाना बनाने में हाथ बंटा दिया और परोसना भी शुरू कर दिया. इस से मजदूर संगठन के अधिकांश लोग—रज्झड़ और गोंड आदिवासी, बरौआ इत्यादि—आगबबूला हो गये. उन को लगा कि उन के साथ धोखा हुआ है. पीढ़ी दर पीढ़ी से चली आ रही परंपराओं को यह एक चुनौती थी. एक ने कहा कि हमारा धर्म भ्रष्ट हो गया. दूसरे ने संकेत दिया कि यदि यह खबर फैल गयी तो उन को जाति से निकाल दिया जायेगा या पूरे समाज को भोज देना पड़ेगा ('रोटी लग जायेगी') यह स्पष्ट था कि वे घबराये हुए थे. भय यहां तक था कि अब बेटे बेटियों के शादी ब्याह में दिक्कत आ सकती है. मामला गंभीर था. हम ने इस गलती के लिए माफी मांगी और उन से पूछा कि वे भोजन व्यवस्था के नियम और पक्के बता दें—आटा गूंथने से ले कर बर्तन मांजने व पत्तल फेंकने तक हर काम कौन कर सकता है और कौन नहीं. इस चर्चा में एक और बात भी उभरी कि किशोर भारती टीम के किसी भी सदस्य (चाहे वह कितना ही ऊंचा ब्राह्मण क्यों न हो) के हाथ का खाना वे नहीं खायेंगे क्यों कि हम लोग हर जात के साथ खाना खा कर भ्रष्ट हो चुके हैं एक नियम और बना. विभिन्न जातियों के लोग एक साथ बैठ कर जरूर खा सकते हैं परंतु उन्हें बीता भर जगह छोड़ कर (संधि दे कर) बिठाना पड़ेगा. ये नियम स्वीकार कर लिये गये और लोग कुछ शांत हुए. परंतु किशोर भारती टीम ने इस निर्णय पर अपना विरोध प्रकट करने के उद्देश्य से फैसला किया कि हम 'संधि दे कर' खाना खाने के बजाय मजदूर संगठन के लोगों के भोजन कर लेने के बाद अलग से भोजन करेंगे. इस फैसले से हम ने यह स्पष्ट कर दिया कि यह जाति भेद हमें स्वीकार नहीं था.

एकाध दिन तो गाड़ी इस प्रकार चली. इस बीच धीरे धीरे सुनने में आने लगा कि कई लोगों को इस बात का बहुत अफसोस है कि उन के नियमों से किशोर भारती के सदस्यों ने परेशान हो कर अलग खाना शुरू कर दिया है. एक दिन सवेरे अनपढ व गरीब शिविरार्थियों ने इस मामले पर विचार करने के लिए हम लोगों के बगैर एक गोष्ठी की. लगभग सभी ने हमारी भावनाओं को ठेस लगने का जिक्र किया. कुछ ने इन जात पात के नियमों के कारण संगठन के ही नीची जाति के लोगों को भी ठेस पहुंचने की बात की. अचानक उन में से कई लोगों ने जात पात टूटने पर सामाजिक दंड लगने की संभावना पर ही प्रश्न खड़े कर दिये. कई मजदूरों ने ऐसे उदाहरण सुनाये जब जात के बाहर भोजन करने पर 'रोटी नहीं लगी'. एक ने तो यहां तक कहा कि ऐसे भेदभाव करने वाले के खिलाफ कानूनी कार्यवाही की जा सकती है. अंत में सबको अहसास हुआ कि अब तो वे संगठित हैं—यदि किसी पर दंड लगा भी तो वे सब मिल कर सामना करेंगे. इस बातचीत से हिम्मत बंधी. एक नया फैसला हुआ कि अब वे भोजन तभी करेंगे जब किशोर भारती के सदस्य भी उन के साथ बैठेंगे. दूसरा फैसला हुआ कि नीची जाति के लोग भी भोजन परोस सकते हैं. उस दिन अनपढ़ मजदूरों ने अपनी नयी समझ के आधार पर एक नया नारा दिया—'हमारी जात गरीबी है' जो शैक्षणिक प्रक्रिया जात पात की परंपरा के कारण लगभग रुक सी गयी थी, उसे हम तर्क के आधार पर आगे नहीं

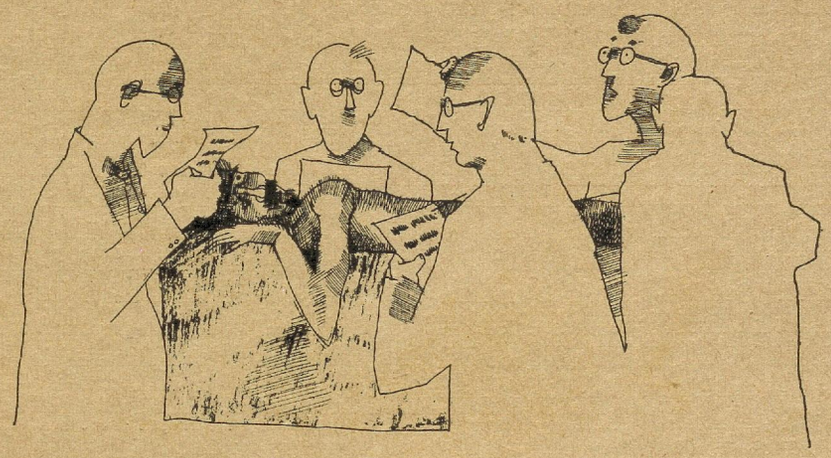

बढ़ा पाये. यह प्रक्रिया आगे तभी बढ़ी जब संगठन के लोगों पर हमारे द्वारा अलग भोजन करने के कारण भावनात्मक असर हुआ जिस से अवरोध टूटा.

आम लोगों का भाग्य में विश्वास शैक्षणिक प्रक्रिया में आने वाला तीसरा अवरोध है. मुझे एक बसोड़ (बाँस की वस्तुएँ बनाने वाले हरिजनों की एक जाति) की याद आ रही है जो मुझे दो साल पहले एक दिन उस मौसम में खाली घूमता हुआ मिला जब बसोड़ों के पास अधिकतम काम रहता है. उस समय वन विभाग के स्थानीय डिपो में बाँस का पर्याप्त भंडार होना चाहिए था. प्रश्न पूछने पर उस बसोड़ ने बताया कि उस इलाके का सारा बाँस बहुत दूर नेपानगर के कागज कारखाने को भज दिया गया था. इस अनपढ़ बसोड़ के पास इस मामले पर बहुत जानकारी थी. मैंने उस से पूछा, 'क्या कारण है कि कागज का एक कारखाना सारा बाँस हथिया लेता है, जब कि हजारों गरीब बसोड़ बिना रोजगार के खाली बैठे रहते हैं.' उस ने छूटते ही कहा, 'नेपानगर के कागज कारखाने की ताकत हम सब बसोड़ों की ताकत से ज्यादा है.' मैंने तब पूछा कि क्या उसे कोई ऐसा रास्ता सूझता है जिस से सब बसोड़ मिल कर नेपानगर जाने वाले उन के हिस्से के बाँस पर रोक लगवा सकें और अपना अधिकार पा सकें. बसोड़ ने कहा, 'हाँ, यह जरूर हो सकता है, अगर हम सब बसोड़ एक संगठन बना कर जंगल वालों से बाँस की माँग करें.' कुछ रुक कर बसोड़ ने आगे कहा, 'पर ऐसा नहीं होगा. ऐसा संगठन तभी बन सकता है जब भगवान चाहेगा. इस साल हमारे भाग में बाँस नहीं है.' सारा मामला भगवान और भाग्य पर आ कर अटक गया. उस बसोड़ के पास जानकारी की कमी नहीं थी और उस ने तार्किक चिंतन की कई सीढ़ियाँ भी पार कीं, पर फिर उस की सीमा आ गयी. इस सीमा को उसी सिद्धांत के आधार पर तोड़ा जा सकता है जिस का जिक्र मैंने रूढ़िवाले अवरोध के संदर्भ में किया था—शैक्षणिक प्रक्रिया में आने वाला हर अवरोध हमेशा मात्र वैज्ञानिक पद्धति से हटाया नहीं जा सकता. ऐसी सीमाएँ तभी टूटती हैं जब उन पर किसी घटना या साहसिक काम का भावनात्मक असर होता है. सीमा टूटने पर शैक्षणिक प्रक्रिया को फिर आगे बढ़ाया जा सकता है.

चौथा अवरोध सामंतवादी शक्तियों व अन्य निहित स्वार्थों के गठबंधन से डर का है. इस आतंक के असर का अहसास हो पाना तब तक संभव नहीं है जब तक कि शोषित लोगों की जिंदगी को बहुत पास से पहचान न लिया जाये. दो वर्ष पहले हम ने पास के एक गाँव के रज्झड़ आदिवासियों को एक आर्थिक कार्यक्रम का प्रस्ताव किया जिस के अनुसार उन्हें कौसम के वृक्षों पर लाख उगाने के अपने पुश्तैनी धंधे को करने का हक मिल सकेगा. इस से पहले कई दशकों से ये आदिवासी दैनिक मजदूरी पर बड़े ठेकेदारों या पटेलों के लिए यह काम करते आये थे. उन का यह एक पुराना सपना था कि एक दिन वे स्वयं मालिक बन कर लाख उगायें और अपनी मेहनत का पूरा फल पायें. परंतु जब अधिकार लेने का मौका आया तो वे पीछे हट गये. बाद में हमें पता चला कि रज्झड़ों के साथ हमारी गोष्ठी व प्रस्ताव की खबर गाँव के सरपंच (पुराने मालगुजार) तक पहुँच चुकी थी. खबर पहुँचते ही सरपंच ने रज्झड़ों को धमकी दी थी कि यदि उन्होंने लाख उगानी शुरू की तो उन्हें मारा पीटा जायेगा.

अधिकतर रज्झड़ इन मालगुजार परिवारों के आर्थिक दबाव में रहते हैं—कुछ उन से लिये गये कर्ज से दबे हैं, कुछ उन की हरवाही व बटाई करते हैं. इसी कारण से मालगुजार लोग चिंतित थे कि यदि रज्झड़ों की लाख के धंधे से कमाई बढ़ गयी तो रज्झड़ आर्थिक रूप से स्वतंत्र होने लगेंगे और इन पर उन का दबाव कम हो जायेगा यानी सामंतवादी ताकत घटेगी. दो वर्षों तक रज्झड़ों ने हमारे आर्थिक प्रस्ताव के उत्तर में कोई पहल नहीं की. कई पीढ़ियों से रज्झड़ों में बैठा हुआ भय इतना गहरा था कि उन की गरीबी के कारण समझने के लिए या लाख उगा कर अपनी आय बढ़ाने के लिए कोई भी तर्क उन पर असर नहीं डाल रहे थे.

अचानक एक दिन एक घटना से पासा पलट गया. इस साल मई के महीने में जब राशन की शक्कर गाँव में बँटी तो उस के वितरण में हमेशा की तरह घपले हुए. अधिकतर गरीब लोगों की शक्कर किसी न किसी तरीके से विभिन्न मालगुजार परिवारों ने हड़प ली. इस इलाके के इतिहास में शायद पहली बार कुछ गरीब लोगों ने इकट्ठे हो कर सरपंच से न्याय माँगने का साहस किया. गरीब लोगों की इस हिम्मत को देख कर सरपंच आगबबूला हो गये और उन्होंने हमारे एक कार्यकर्ता और दो आदिवासियों को पिटवा दिया. वैसे तो ऐसी मारपीट की घटनाएँ आये दिन घटती रहती हैं और गरीब लोग यह अन्याय चुपचाप सहन कर लेते हैं. परंतु इस बार हमने इस मामले में दखल दिया. इस का परिणाम यह हुआ कि सरपंच को सारे गाँव के सामने खुली माफी माँगनी पड़ी. आप में से जिन लोगों का सामंतवादी प्रभाव से परिचय रहा है वे ही पूरी तरह से समझ सकते हैं कि ऐसी घटना का गाँव के लोगों पर क्या असर हुआ होगा. दो वर्षों से रज्झड़ों के साथ की जा रही तार्किक प्रक्रिया से जो नहीं हो पाया वह अचानक इस 'शक्कर कांड' के भावनात्मक असर से अपने आप हो गया. पहली बार लोगों ने अपनी आँखों से देखा व महसूस किया कि पटेलों की ताकत असीम नहीं है, इस की भी सीमा है. वैज्ञानिक पद्धति को आगे बढ़ाने में जो अवरोध था वह इस प्रकार टूट गया. जलाई के महीने में अन्य शोषित लोगों के साथ मिल कर रज्झड़ आदिवासियों ने संगठित होने का फैसला किया ताकि वे कई पीढ़ियों से चले आ रहे सामंतवादी दबाव से बाहर निकल कर कौसम वृक्षों पर लाख उगाने का अपना हक पा सकें. इस तरह रुकी हुई शैक्षणिक प्रक्रिया को फिर शुरू करने के रास्ते खुल गये.

पाँचवाँ और अंतिम अवरोध—अमूर्त चिंतन की क्षमता की कमी, यानी अपने अनुभवों के सीमित दायरे से निकल कर दूसरों के अनुभवों को समझने और इन सब अनुभवों को जोड़ कर समस्याओं की एक व्यापक समझ बना पाने की क्षमता की कमी है. मैं एक बार फिर वालकाड गाँव में परिषद के कार्यक्रम का उल्लेख करूँगा. हम ने वालकाड गाँव के कुछ जागरूक कार्यकर्ताओं को चर्चा के दौरान बताया कि मध्यप्रदेश के शहडोल जिले में भी जल प्रदूषण की एक बिल्कुल वैसी ही समस्या है. शहडोल जिले में सोन नदी के किनारे कागज का एक कारखाना है जिस के मालिक वही उद्योगपति हैं जो वालकाड गाँव की रेयान फैक्टरी के मालिक हैं. कागज के इस कारखाने ने सोन नदी प्रदूषित कर दी है

जिस के फलस्वरूप नदी के तट पर बसे कई गाँवों के लोग पीड़ित हैं.* यह सब सुन कर भी वालकाड के लोगों पर कोई असर नहीं हुआ. शहडोल और सोन नदी दोनों उन से बहुत दूर थे, इतने दूर कि इन का उन के जीवन में कोई अर्थ नहीं था. हम ने तब उन से पूछा कि क्या उन्हें रेयान फैक्टरी के मालिकों और त्रिवेंद्रम की सरकार के बीच कोई संबंध दिखता है. लोग फिर भी चुप रहे. न्याय पाने के लिए उन का जो संघर्ष चल रहा था उस में उन्हें त्रिवेंद्रम की कोई भूमिका नहीं दिखी और न ही उन्हें रेयान फैक्टरी व इतनी दूर बैठी सरकार के बीच कोई कड़ी ही दिखी. ऐसा लगता है कि किसी भी जन आंदोलन के आगे बढ़ने या फैलने में अमूर्त चिंतन की कमी एक महत्त्वपूर्ण अवरोध हो सकता है. ऐसे प्रमाण हैं कि इस अवरोध का असर इतना गहरा और व्यापक साबित होगा जितना कि हम अभी तक सोच भी नहीं पाये हैं.

अब तक हुई बात से यह निष्कर्ष निकालना सही नहीं होगा कि शोषित लोगों में अमूर्त चिंतन की क्षमता विकसित ही नहीं हो सकती. सही प्रश्न तो शायद यह होगा कि इस संदर्भ में गरीबों के बीच काम करने वाले बाहरी कार्यकर्ताओं की अपनी समझ कितनी व्यापक है. ऐसे कई उदाहरण हैं जिन से पता चलता है कि गरीब लोगों में अमूर्त चिंतन की शुरुआत हुई है.

इस क्षमता की संभावना की एक झलक तो मजदूर संगठन के उस उदाहरण से मिलती है जिस में शोषित लोगों ने 'हमारी जात गरीबी है' का नारा दिया था. इस नारे के पीछे एक सिद्धांत उभरता दिखता है—उन के जातपात के भेदभाव गौण हैं, परंतु वे सभी गरीबी और शोषण के सामान्य सूत्र में बँधे हैं. इस सूत्र को पहचान पाना अमूर्त चिंतन का एक छोटा सा परंतु एक ठोस कदम है. आइए, एक और उदाहरण पर विचार करें. महाराष्ट्र के ठाणे जिले में आदिवासियों का एक आंदोलन चल रहा है जिस का नाम भूमिसेना है. एक बार भूमिसेना के ग्रामीण तरुण मंडलों के लगभग 100 प्रतिनिधियों की बैठक में इस बात पर विचारविमर्श हुआ कि अपनी मजदूरी बढ़वाने के लिए बड़े किसानों के विरोध में प्रस्तावित हड़ताल की तैयारी कैसे की जाये. एक रोचक सवाल उठा कि तरुण मंडलों के कार्यकर्ता समाज के विभिन्न तबकों—संपन्न व मध्यमवर्गीय किसान, गरीब किसान, भूमिहीन मजदूर—के बारे में क्या सोचते हैं. प्रत्येक कार्यकर्त्ता ने अपनी अपनी समझ बतायी कि इन में से कौन आंदोलन का दोस्त है और कौन दुश्मन. उन्होंने अनेक अनुभव सुनाये जिन से अलग अलग लोगों का वर्ग चरित्र उभरा. इन सभी कहानियों का विवेचन हुआ और जो निष्कर्ष निकला वह बहुत चकित कर देने वाला था. बैठक का निष्कर्ष था कि मध्यम वर्ग का किसान उन का दोस्त नहीं हो सकता क्यों कि वह भी बड़े किसानों की तरह अपनी खेती मजदूरों से करवाता है. परंतु छोटे किसान जो अपने खेत पर स्वयं काम करते हैं और खाली समय में भूमिहीनों की तरह बाहर मजदूरी करते हैं, उन्हें आंदोलन का दोस्त मानना चाहिए क्योंकि वे भी भूमिहीनों की तरह ही शोषित हैं. कुछ लोगों ने एक नया मुद्दा जोड़ा कि छोटे किसान का शोषण तो दो बार होता है. एक बार जब वह खाली समय में खाने पीने को कुछ नहीं होने के कारण भूमिहीनों की तरह साहूकारों से अनाज उधार लेता है—कर्ज का एक रूप जिसे 'खावटी' के नाम से जाना जाता है. दूसरी बार शोषण तब होता है जब बोनी के समय वह बीज उधार लेता है. इस समझ के आधार पर बैठक में एक नया निर्णय हुआ कि अगली हड़ताल में छोटे किसान को भी अपना साथ देने के लिए प्रोत्साहित किया जायेगा. यह अमूर्त चिंतन की शुरुआत का एक उदाहरण है जब गरीब लोगों ने अपने जीवन के आम अनुभवों के आधार पर सिद्धांत विकसित करने की क्षमता दिखायी. अपने काम से सिद्धांत विकसित करना और उन्हें नयी परिस्थितियों से जोड़ पाना वैज्ञानिक पद्धति का एक जरूरी आयाम है. इस आयाम के बिना वैज्ञानिक पद्धति को फैलाने की प्रक्रिया अधूरी प्रक्रिया होगी.

जन आंदोलन की ओर

यदि हम शैक्षणिक प्रक्रिया में आने वाले इन पाँच अवरोधों को दूर कर सकें तो एक सशक्त व व्यापक जन आंदोलन खड़ा हो जाने की संभावना बढ़ जायेगी. यदि ऐसा हो पाया तो हमें विश्वास है कि शोषित वर्ग के लोग देश की नीतियों को वैज्ञानिक पद्धति की कसौटी पर परख सकेंगे और तब योजनाएँ बनाने की प्रक्रियाओं व विकास कार्यक्रमों पर अभिजात वर्ग के प्रभुत्व को चुनौती भी दे सकेंगे. तभी योजना आयोग के तहत विज्ञान और तकनोलॉजी की शिक्षा के विषय पर हुई गोष्ठी, मलेरिया निवारक जैसी महत्वपूर्ण स्वास्थ्य समस्याओं पर चल रहे गैर वैज्ञानिक चिंतन, हमारी स्कूली पाठ्यपुस्तकों के द्वारा भारत की गरीबी और जनसंख्या के संबंध में फैलाये जा रहे भ्रम और स्कूलों पर स्लाइड टेप सीरीज वाली निरर्थक गतिविधियों को थोपने की चेष्टा जैसी अनेक राष्ट्रव्यापी निहायत गैर तार्किक प्रक्रियाओं को रोक देना संभव हो सकेगा और इन की जगह पर वैज्ञानिक आधार पर बनाये गये सार्थक विकास कार्यक्रमों की शुरुआत हो सकेगी. तभी यह संभव होगा कि सर्वोदय सम्मेलन में व्यक्तिपूजा और चाटुकारिता की जो प्रवृत्ति दिखी उसे देश की आम जनता चुपचाप सहन करना बंद कर देगी. तभी नेतागण से उन के हर कथन, काम और निर्णयों के वैज्ञानिक आधारों की माँग की जायेगी. यदि अमूर्त चिंतन भी आम लोगों की जिंदगी का अंग बन सका तो वालकाड गाँव के लोग अपने और शहडोल जिले के लोगों के शोषण के बीच की कड़ी देख पायेंगे और तभी वालकाड की रेयान फैक्टरी के मालिकों और त्रिवेंद्रम व नयी दिल्ली की सरकारों के संबंध साफ दिखने लगेंगे. ऐसे जन संगठन जो पूर्णतः वैज्ञानिक पद्धति पर विकसित होंगे उन से उम्मीद है कि उन के संघर्ष बेहतर मजदूरी व जमीन की माँगों तक ही सीमित नहीं हो जायेंगे, वरन् उन के संघर्षों का उद्देश्य ऐसे समाज की रचना करना होगा जो आज की तुलना में विषमता, शोषण, नौकरशाही की जकड़न और सामाजिक व राजनैतिक पिछड़ेपन के अन्य पहलुओं से मुक्त होंगे. जब यह सब हो पायेगा तभी उन आंदोलनों की वर्तमान सीमाओं को तोड़ कर उन का नया स्वरूप उभरेगा.

हम ने मजदूर संगठन के 20-25 सदस्यों के साथ एक शिविर का आयोजन किया. संगठन के लोगों ने शुरू में ही स्पष्ट कर दिया था कि वे शिविर के दौरान अपने जातीय बंधनों के कारण किशोर भारती संस्था में भोजन नहीं करेंगे. इस बात को ले कर बहुत चर्चा हुई और अंत में तय हुआ कि वे भोजन इस शर्त पर करेंगे कि उन के द्वारा चुने गये बरौआ (कहार) जाति के लोग सब के लिए भोजन बनायेंगे और परोसेंगे. इस प्रकार शिविर में भोजन की व्यवस्था हुई. कुछ अव्यवस्था के कारण पहले दिन ही एकाध नीची जात के मजदूरों ने खाना बनाने में हाथ बँटा दिया और परोसना भी शुरू कर दिया. इस से मजदूर संगठन के अधिकांश लोग—रज्झड़ और गोंड आदिवासी, बरौआ इत्यादि—आगबबूला हो गये.

* शहडोल जिले के अनूपपुर प्रखंड में विदूषक कारखाने के नाम से सक्रिय इंजीनियरों के एक दल ने इस समस्या पर विस्तृत जानकारी इकट्ठी की है और प्रसारित भी की है.